# सम्बोधि की यात्रा




मुनि शुभकरण

स्व अनन्त है। स्व का यात्रापथ भी अनन्त है। इस पथ को अगणित व्यक्तियों ने अपने चरणों से पूत किया है। किन्तु फिर भी यह अचिन्हित ही रहा है। इस यात्रा पर चलने वाले पथिक को स्वयं ही अपना पथ अलोकित करना होता है। यह अकेले के लिए अकेले ही उड़ान है।

सम्बोधि स्वधर्म है। स्वभाव कभी सर्वथा विलुप्त नहीं होता। उसकी मन्द–मन्द ज्योति अनवरत प्रज्वलित रहती है। सब में वह तिरोहित है। उसकी अप्रकटित दशा में कभी आनन्द का स्त्रोत नहीं फूट सकता। अध्यात्म पथ के महान पथिक श्रीमद् राजचन्द्र ने लिखा है –

जेह स्वरूप समज्यां बिनां,
पाम्यु दुःख अनन्त।
समझाव्युं ते पद नमुं,
श्री सद्गुरू भगवन्त।।

शब्द सम्बोधि की यात्रा का संकेत करते हैं किन्तु न वे यात्रा हैं और न मंजिल हैं। साधक को स्वयं उस अज्ञात और अदृष्ट यात्रा पर चलना होता है। ज्ञात और दुष्ट का व्यामोह न सम्बोधि है और न सम्बोधि का यात्रा–पथ भी है। जो उससे मुक्त है वही व्यक्ति उस पथ पर चलने को प्रस्तुत हो सकता है।

सम्बोधि आचार्य महाप्रज्ञ की अमर कृति है। वह रत्नाकर है। अनन्त रत्नों का भंडार है, जो न रिक्त हुआ है और न रिक्त होगा। जीवन–पर्यन्त उसकी शब्दों के माध्यम से हम यात्रा करते रहें, फिर भी शब्द असीम को कभी ससीम नहीं बना सकते।

# सम्बोधि की यात्रा

## मुनि शुभकरण

सम्बोधि प्रकाशन

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थल :–
सम्बोधि उपवन प्रकाशन
सम्बोधि उपवन ट्रस्ट
ग्राम – लेवां का तलाब
पोस्ट – टाडावाड़ा गुजरान
वाया – चारभुजा – 313333
जिला – राजसमन्द (राज.)

द्वितीय संस्करण
नवम्बर – 2001

प्रतियां – 1000

मुद्रक :–
सनराईज प्रिन्टर्स, कांकरोली – 21904

# प्रस्तुति

स्व अनन्त है। स्व का यात्रापथ भी अनन्त है। इस पथ को अगणित व्यक्तियों ने अपने चरणों से पूत किया है। किन्तु फिर भी यह अचिन्हित ही रहा है। इस यात्रा पर चलने वाले पथिक को स्वयं ही अपना पथ अलोकित करना होता है। यह अकेले के लिए अकेले ही उड़ान है।

संबोधि स्वधर्म है। स्वभाव कभी सर्वथा विलुप्त नहीं होता । उसकी मन्द– मन्द ज्योति अनवरत प्रज्वलित रहती है। सब में वह तिरोहित है। उसकी अप्रकटित दशा में कभी आनन्द का स्रोत नहीं फूट सकता। अध्यात्म पथ के महान् पथिक श्रीमद् राजचन्द्र ने लिखा है –

**जेह स्वरूप समज्यां बिनां, पाम्यु दुःख अनन्त ।**
**समझाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्‌गुरु भगवन्त ।।**

शब्द संबोधि की यात्रा का संकेत करते हैं किन्तु न वे यात्रा हैं और न मंजिल हैं। साधक को स्वयं उस अज्ञात और अदृष्ट यात्रा पर चलना होता है। ज्ञात और दृष्ट का व्यामोह न संबोधि है और न संबोधि का यात्रा–पथ भी है। जो उससे मुक्त होता है वही व्यक्ति उस पथ पर चलने को प्रस्तुत हो सकता है।

संबोधि आचार्य महाप्रज्ञ की अमर कृति है। वह रत्नाकर है। अनन्त रत्नों का भंडार है, जो न रिक्त हुआ है और न रिक्त होगा। जीवन–पर्यन्त उसकी शब्दों के माध्यम से हम यात्रा करते रहें, फिर भी शब्द असीम को कभी ससीम नहीं बना सकते।

अनेक बार उसकी यात्रा करने का मन हो रहा था किन्तु यह विश्वास भी नहीं हो रहा था कि मैं इस पर चल सकूंगा, क्योंकि मेरी

स्थिति उस वामन व्यक्ति जैसी थी जो उद्‌बाहु होकर ऊंचे पेड़ पर लगे फलों को तोड़ना चाहता था–प्रांशुलभ्ये फले रम्ये, उद्‌बाहुरिव वामनः। लेकिन किसी अज्ञात शक्ति ने उस पर चलने के लिए इस बार प्रेरित कर दिया। यात्रा की तैयारी की और वह प्रारम्भ हो गई तथा निराबाध संपन्न हो गई। निःसन्देह यह यात्रा बहुत छोटी थी। चातुर्मास के केवल पांच महीने और उनमें भी केवल रविवार को। एक कदम भी पूरा उठा सका हूं या नहीं, यह संदेह है।

यह यात्रा मैंने अपने लिए प्रारम्भ की थी। अतः इसमें कोई सहभागी बने, ऐसी अपेक्षा नहीं थी। फिर भी कुछ लोगों ने मुझे इसमें साथ दिया। कुछ स्थायी रूप से सहभागी बनें तथा कुछ अस्थायी रूप से। वे कितनी दूर तक मेरे साथ चले, यह भी मुझे ज्ञात नहीं है। मुझे चलना था, मैं चला। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में–**न भवति धर्मः श्रोतुः वक्तुरस्त्वेकान्ततो भवति**– श्रोताओं को धर्म का आस्वादन मिलता है या नहीं मिलता किन्तु वक्ता को तो निश्चितरूपेण वह प्राप्त होता ही है। सचमुच यह यात्रा मेरी मार्गदर्शिका रही। मुझे असीम आनन्द की अनुभूति हुई। पाठकों को भी यदि इससे मार्गदर्शन सुलभ हुआ तो निःसंशय इसकी उपयोगिता होगी।

मुनि विनोदकुमारजी ने इन प्रवचनों को सुना है और उन्हें संकलित करने के लिए और अधिक ध्यान से सुना है। उन्हीं के प्रयत्न से ये संकलित हो गए। आमेट चातुर्मास की समाप्ति के बाद सहसा आचार्य महाप्रज्ञ का यात्रा–पथ साधना–शिखर बन गया। मुनिश्री दुलहराजजी आचार्य श्री के साथ ही यहां आ गए। यह संकलन उनके कुशल करों का स्पर्श पाकर सुव्यवस्थित परिधान पहनकर सद्यः सर्वभोग्य बन गया। पुनः इसका आलोकन कर कहीं–कहीं संशोधित व सुव्यवस्थित किया है। मुनिद्वय का श्रम स्वागत योग्य है।

गणाधिपति पूज्य गुरुदेव तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ का आशीर्वाद सतत मेरे अन्तर को आलोकित करता रहा है। उनकी मंगलमयी शुभ–भावना शिव की सन्निधि में अनवरत मुझे सुस्थिर रखे।

**–मुनि शुभकरण**

सौजन्य :-

सुश्राविका स्व. श्रीमती रतनीदेवी हजारीमल बछावत,

सरदारशहर निवासी, अहमदाबाद प्रवासी

की पावन स्मृति में

उनके पुत्र

सम्पतलाल, सुशील कुमार,

प्रपौत्र अतुल, दीपक, देवेश, नयन, बछावत

की ओर से।

प्रतिष्ठान :–

# बछावत ट्रेडर्स

88-NEW CLOTH MARKET

अहमदाबाद – 380004

फोन नं.– Off. - 2160973, 2168889

Resi - 2866907, 2867764, 2867156

# अनुक्रम

## संबोधि की यात्रा

'सम्बोधि' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की महान् कृति है। यह स्वाध्यायी पाठकों के लिए अमूल्य ग्रन्थ है। शायद बहुत कम लोगों ने इसे पढ़ा होगा। इस अद्वितीय ग्रन्थ का आधार है आगम–साहित्य। अनेक ग्रन्थों का मन्थन कर इस नवनीत को प्राप्त किया गया है। जैन साहित्य में इसका वही स्थान है जो बौद्ध साहित्य में 'धम्मपद' का, वैदिक साहित्य में 'गीता' का, ईसाई धर्म में 'बाइबिल' का, इस्लाम मत में 'कुरान' का और गुरूग्रन्थ साहब में 'जपुजी' का। इस ग्रन्थ का निर्माण एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा हुआ है जिन्होंने शास्त्रों का गहन पारायण किया है, अपने भीतर डुबकी लगाई है। ऐसा करके उन्होंने स्वाध्यायशील व्यक्तियों की एक बड़ी कमी की सम्पूर्ति की है।

'सम्बोधि' शब्द से आप कितने परिचित हैं, इसका मुझे पता नहीं और न ही इसका पता है कि इसके पारिभाषिक अर्थ से आप कितने परिचित हैं। कुछ शब्द दो प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति देते हैं–एक शाब्दिक अर्थ, एक पारिभाषिक अर्थ। शाब्दिक अर्थ का ज्ञान सरल है किन्तु पारिभाषिक अर्थ का ज्ञान किसी विशिष्ट व्यक्ति के बिना सहज नहीं है। गुरू या आचार्य से जब तक उसका ज्ञान नहीं किया जाता तब तक उसके रहस्य अनावृत नहीं होते। सम्बोधि का अर्थ क्या है, अन्य ग्रन्थों में इसके लिए किन शब्दों का उल्लेख हुआ है और इस सम्बन्ध में क्या कहा गया है ? – यह हमें जानना है।

दो शब्दों के योग से इस शब्द की रचना हुई है–सम्+बोधि। 'बोधि' शब्द संस्कृत में बुधङच् ज्ञाने–धातु से निष्पन्न होता है।

'बुध्यते' यानी जो जाना जाता है, जिसका ज्ञान किया जाता है। इसके पीछे 'सम्' उपसर्ग लगाने से इसके अर्थ का उत्कर्ष हो गया। सम्बोधि का अर्थ–विषय का ठीक–ठीक ज्ञान, विषय का सम्यक् ज्ञान। किसी एक विषय में निष्णात हो जाना, विषय को हृदयंगम कर लेना–यह सम्बोधि का शाब्दिक अर्थ है । किन्तु इसका आध्यात्मिक अर्थ बहुत भिन्न है। स्वयं का ज्ञान प्राप्त कर लेना, आत्म–साक्षात्कार कर लेना–यह है सम्बोधि का आध्यात्मिक अर्थ।

भगवान महावीर ने कहा – "संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा' – सम्बोधि बहुत दुर्लभ है। इसी जीवन में इसका साक्षात्कार किया जा सकता है। मनुष्य–देह इसकी प्राप्ति का महत्वपूर्ण माध्यम है। किसी अन्य योनि में इसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, असम्भव जैसी है। यह कथन न केवल महावीर का है, बल्कि जितने भी आत्मद्रष्टा पुरूष हुए हैं उन सबका यह कथन है। सन्तों का भी यह स्वर रहा है कि आत्म–साक्षात्कार इसी मनुष्य जीवन में संभव है, दूसरे किसी जन्म में नहीं। जब भगवान महावीर ने यह कहा कि सम्बोधि अत्यन्त दुर्लभ है तो हमें यह सोचना होगा कि इसका दूसरा अर्थ क्या होगा ? इसका पारिभाषिक अर्थ क्या होगा ?

ऐसे बहुत बड़े–बड़े विद्वान् होते हैं जिनका ज्ञान बढ़ा–चढ़ा होता है, जो अपने विषय में अत्यन्त निष्णात होते हैं, किन्तु बहुत कम ऐसे विद्वान् पुरूष होते हैं जो विषयी–आत्मा का साक्षात् करते हैं। आइंस्टीन वैज्ञानिक जगत् में एक चमकते हुए सूर्य थे। विचारक जोरेफ ने सुझाव दिया कि विश्व का कैलेण्डर अब आइंस्टीन के हिसाब से चलना चाहिए।

वस्तुतः वे अपने क्षेत्र के एक महान् वैज्ञानिक थे। मैंने पढ़ा–जब वे मरण–शैय्या पर थे, मित्रों का समूह उन्हें घेरे हुए था। एक मित्र ने उनसे पूछा– अब यह आपका अन्तिम क्षण है। आपकी कोई मनोकामना हो तो हमें कहें। आइंस्टीन ने बड़ी गहरी बात कही–मैं अगले जन्म में वैज्ञानिक नहीं, सन्त बनना चाहता हूं। मित्र ने

पूछा–क्यों ? क्या वैज्ञानिक बनना कोई साधारण बात है ? आइंस्टीन ने रहस्य को अनावृत करते हुए कहा–एक वैज्ञानिक परमाणुओं पर अनुसन्धान करता है, पदार्थों पर खोज करता है। मैंने पदार्थ–जगत् का बहुत विश्लेषण किया पर मैं देख रहा हूं कि मैं शून्य हूं, मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। सन्त अपनी अन्तश्चेतना का अनुसन्धान करते हैं, अपने आपका साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए मैं चाहता हूं कि मुझे यदि अगला जन्म मनुष्य का मिले तो मैं सन्त बनना पसन्द करूंगा। आइंस्टीन का यह संवाद बहुत ही तथ्यपूर्ण है।

आदमी सब कुछ प्राप्त कर ले, किन्तु बिना सम्बोधि को प्राप्त किये उन सबकी कोई सार्थकता नहीं। सन्तों ने कहा भी है –

**सुतदारा अरू लक्ष्मी, पापी के भी होय ।**
**सत-संगत अरू हरि-कथा, तुलसी दुर्लभ होय ।।**

– पापी से पापी व्यक्ति भी पुत्र स्त्री और धन प्राप्त कर सकता है, लेकिन सन्त–समागम सबके लिए सहज नहीं हैं हरिकथा–अपने अस्तित्व की कथा भी सहज श्राव्य नहीं है। सम्बोधि बड़ा प्यारा शब्द है, बड़ा मूल्यवान शब्द है और अपने आप में बहुत गम्भीर अर्थों को समेटे हुए है। गीता में भी कहा गया है कि "हजारों–हजारों मनुष्यों में से कोई एक व्यक्ति साधना के लिए चलता है और उन हजारों साधकों में से कोई एक मुझे प्राप्त करता है।" गुरू नानक ने भी कहा है कि "करोड़ों में से कोई एक व्यक्ति अपने आपको प्राप्त करता है।" कबीर भी कहते हैं–"लाखों में क्या, करोड़ों में देख।"

जैन–दर्शन की अमूल्य त्रिपदी का सम्बोधि में समावेश हुआ है–सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र। जब हम सम्बोधि शब्द का उच्चारण करते हैं तब हमें इन तीनों शब्दों का, इस त्रिपदी का अनुभव करना चाहिए। वह संबुद्ध होता है जिसने इन तीनों का ज्ञान कर लिया। अपने स्वरूप को देख लेना, उसका बोध कर लेना और उसमें स्थित हो जाना, यह है सम्यग्त्रयी। तथाकथित पंडित, विद्वान् अनेक विद्याओं में कुशल होता है, अनेक शास्त्रों का वेत्ता होता

है पर क्या वह सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र में कुशल होता है ?

मेवाड़ की एक साधिका महात्मा भूरीबाई के शब्दों को एक पद्य में रखते हुए किसी ने कितना सुन्दर कहा है–

**पढ़-पढ़ पंडित हवे रहे, सकल शास्त्र ले जाण।**
**पण खुद ने जाणे नहीं, उणसो कुण अणजाण ।।**

समस्त ग्रन्थों का पारायण कर लिया, अनेक ग्रन्थों को याद कर लिया और जब लोग उन्हें सुनते हैं तो वे समझते हैं इनसे बड़ा कौन पंडित हो सकता है ? लोगों की विद्वत्ता की धारणा भी ग्रन्थों पर, शास्त्रों पर टिकी हुई है। इतना सब कुछ होते हुए भी यदि अपने आपको नहीं जाना, अपने आपका स्मरण नहीं किया तो भूरीबाई कहती है कि उस व्यक्ति से अधिक अज्ञानी और कौन होगा? उससे बड़ा अनजान दूसरा कौन है ? आत्म– दर्शन बहुत बड़ी बात है। सम्बोधि को उपलब्ध होना, जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य है। इसीलिए कहा गया है कि वह विद्यावान् व्यक्ति भी अविद्यावान् है जिसने अपने आपको नहीं जाना और वह अविद्यावान् भी विद्यावान है जिसने स्वयं को जान लिया, स्वयं को पहचान लिया। महावीर ने विद्यावान् और अविद्यावान् की जगह पंडित और अपंडित शब्द का प्रयोग किया है। महावीर की भाषा में वह साधक पंडित है जिसने महाव्रत, समिति और गुप्ति की सम्यक् आराधना कर ली, भले, उसने कुछ नहीं पढ़ा हो। उसका काम हो गया। वह साधक अपंडित है जिसने कुछेक पूर्वों का ज्ञान कर लिया, लम्बे–चौड़े ग्रन्थों को कंठस्थ भी कर लिया,पर महाव्रतों को नहीं आराधा, गुप्तियों का अभ्यास नहीं किया। कहां पूर्वों की विशाल ज्ञानराशि और कहां महाव्रतों, गुप्तियों का सीमित ज्ञान! महावीर कहते हैं – "पंडित मुक्त हो जाता है, जो अपंडित है वह संसार में परिभ्रमण करता है।"

अब हम देखें, भगवान् जिस सम्बोधि की बात करते हैं उसके बारे में बुद्ध ने क्या कहा है ? जहां बुद्ध को ज्ञान हुआ, जिस वृक्ष

के नीचे उन्होंने बोधि प्राप्त की वह वृक्ष 'बोधि वृक्ष' के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ। बुद्धत्व–प्राप्ति के समय बुद्ध ने कहा – **अविज्जा विहता विज्जा उप्पन्ना**– मेरा अंधकार विदा हो गया, आलोक–प्रकाश प्रस्फुटित हो गया। जब तक अविद्या नष्ट नहीं होती, तब तक अन्धकार नष्ट नहीं होता। बाहर का आलोक भीतर का आलोक नहीं बन सकता। बाहर का प्रकाश बाहर ही काम देता है। दोनों की अलग–अलग विधि है।

दीये को बुझाने की विधि अलग है और विद्युत बल्ब को बुझाने की अलग। फूंक मारकर दीये को बुझाया जा सकता है, बल्ब को नहीं।

एक ग्रामीण शहर में आया। अपने किसी परिचित के यहां रात विश्राम को रूका। शयन–कक्ष में संध्या होते ही बत्ती जलाई गयी थी। वह आया और सो गया। प्रकाश तेज था, सोये–सोये ही फूंक मारी, पर बत्ती बुझी नहीं। बैठकर फूंक मारी, फिर भी नहीं बुझी। खड़े होकर फूंक मारने पर भी नहीं बुझी, तब झुंझलाहट में मन–ही–मन कहने लगा–यह क्या दीया है, बुझता ही नहीं ? उसे पता नहीं कि यह दीया नहीं है, बल्ब है। इसे बुझाने की विधि अलग है, यह बटन दबाने से बुझता है, फूंक मारने से नहीं।

बाहर के अंधकार को आप दीया जलाकर या बत्ती जलाकर दूर कर सकते हैं, लेकिन अन्तर का तमस वैसे दूर नहीं होता। उसकी प्रक्रिया है–सम्बोधि, विद्या या स्रोत में पुनः लौट आना।

बुद्ध कहते हैं–अविद्या नष्ट हुई, प्रकाश प्रस्फुटित हुआ। अपने मन को सम्बोधित करते हुए वे एक बात और कहते हैं–हे मन! अब तुझे विदा देता हूं। तुम्हारा काम सम्पन्न हो गया। अब यहां तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है। भीतर अंधकार होता है तब तक ही तुम यहां ठहर सकते हो। अब मैं विद्या के आलोक से आलोकित हो चुका हूं। चले जाओ।

**सा विद्या या विमुक्तये**–बहुत छोटा–सा वाक्य है किन्तु बात

अर्थपूर्ण है। विद्या कौन-सी है ? अक्षर–ज्ञान विद्या नहीं है। पुस्तक पढ़ लेना बहुत छोटी बात है। वास्तव में विद्या वह है जो मुक्त करे। विद्या वह है जो हमें सन्तुलित करें, तनाव–मुक्त करे। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक–इन तीनों तनावों से हमारा चित्त मुक्त रहे। 'जीवन विज्ञान' का भी यही मूलभूत उद्देश्य है। वहां इन्हीं तीन तनावों से दूर करने का प्रशिक्षण दिया जाता है। इनसे मुक्त रहने के लिए विद्या की जरूरत होगी। किन्तु वह विद्या नहीं, जिसे हम विद्यालयों में हस्तगत कर रहे हैं, जिसका शिक्षण आज सर्वत्र दिया जा रहा है।

मैंने कई बार कहा है कि बच्चों को बाह्य शिक्षा के साथ–साथ अध्यात्म की, योग की भी शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे वह जीवन की समस्याओं के मूल तक पहुंच सके। पर लगता है, अभिभावकों का इस तरफ ध्यान ही नहीं है। वे सोचते हैं, कहीं संतों के पास रहकर यह संत नहीं बन जाये! कितना व्यामोह है ! कितनी मूर्च्छा है ! पर जाने वाले को क्या आप रोक सकते हैं ? मृत्युकाल आने पर क्या कोई व्यक्ति को पकड़ सकता है ? यह अज्ञानपूर्ण प्रयत्न है। खैर, मुझे तो यह कोशिश ही नहीं करनी है कि कोई साधु–संत बने। मैं तो सोचता हूं कि इंसान केवल इंसान बन जाये; सम्बोधि को प्राप्त कर ले। यही जीवन की सार्थकता है। वहां सब कुछ स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

बुद्ध ने कहा – **सोतापत्ति फलं वरं**– स्त्रोत में लौटना दुर्लभ है, स्त्रोत में गिर जाने का फल महान् है। उसकी तुलना में स्वर्गगमन, पृथ्वी पर शासन करना और तीनों लोकों का सम्राट होना भी तुच्छ है। स्त्रोत में आ जाना श्रेष्ठ है। स्त्रोत में आने के लिए अपने मुंह को पुनः हमें स्त्रोत की दिशा में करना होगा। गंगा कितना ही प्रयत्न करे वह पुनः गंगोत्री में नहीं लौट सकती, जब तक वह अपने प्रवाह का मुख पुनः उस तरफ न कर ले। हम अपने भीतर के स्त्रोत से कितने दूर चले गए हैं और जा रहे हैं ! स्त्रोत की उपलब्धि यदि महान् है

तो हमें देखना है, हमारा उस दिशा में प्रयत्न कितना है !

किसी सम्राट ने सन्त की स्तवना करते हुए बहुत कुछ कहा – आप महान् त्यागी हैं, विरक्त हैं, तेजस्वी हैं। सन्त सुनते रहे। अन्त में कहा – तुम मेरे से बड़े तपस्वी हो, त्यागी हो। यह सुनते ही सम्राट बड़ा विस्मित हुआ। उसने पूछा – कैसे ? सन्त ने कहा – मैंने तो सिर्फ क्षुद्र और नश्वर पदार्थों का त्याग किया है विराट् परमात्मा के लिए और तुमने परमात्मा को छोड़कर पकड़ा है इन सब नश्वर चीजों को। बताओ, कौन बड़ा त्यागी है – तुम या मैं ? विद्या वह है जो मुक्त करे। हम बन्धन–मुक्त बनें। कषाय–मुक्त बनें। धर्म करने वाले व्यक्ति में यदि कषाय वैसी ही है, मात्सर्य और क्रोध वैसे ही प्रज्वलित हैं, वासना वैसी ही बनी हुई है तो वह धार्मिक कहां ? धर्म का ज्ञाता वह कैसे हो सकता है ? धार्मिक वह है जो धर्म को जीता है, विजातीय तत्वों से मुक्त होता है। श्रेणिक सम्राट् था और पूर्ण बहुत छोटा–सा व्यक्ति–श्रावक। महावीर के सामने श्रेणिक का मूल्य था तो पूणिया का भी कम मूल्य नहीं था। उन्होंने पूणिया की आराधना को मुक्त कंठ से सराहा। पूणिया हजारों वर्षों बाद आज भी इतिहास के पृष्ठों में जीवित है, स्मरणीय है। सम्यक्त्रयी की उपलब्धि ही उसकी जीवन्तता का निमित्त बनी है।

बौद्ध साहित्य में सम्बोधि के लिए 'सोतापन्न' और 'विद्या' दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। वैदिक साहित्य में भी विद्या और अविद्या शब्द बहुत प्रचलित है। उपनिषदों में इनकी चर्चा है। अध्यात्म रामायण में वसिष्ठ ऋषि राम से कहते हैं – राम ! विद्यावान् बनो। प्रश्न होता है – विद्या क्या है और अविद्या क्या हैं ?

**देहोऽयमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।**
**नाहं देहश्चिदात्मेति, बुद्धिर्विद्येति भण्यते ।**

–मैं शरीर हूं– इस बुद्धि का नाम अविद्या है। मैं देह नहीं, ज्ञानात्मा हूं– इस बुद्धि का नाम विद्या है।

नारद ने वेद–वेदांगों का अध्ययन किया, किन्तु फिर भी मन

शान्त नहीं हुआ। वे सनत्कुमार के पास गए और बोले–मुझे शान्ति प्रदान करें। सनत्कुमार ने पूछा–तुमने क्या–क्या पढ़ा हैं ? नारद ने जो कुछ पढ़ा था, वह सब बता दिया। अब आगे कुछ पढ़ने को नहीं है। सनत्कुमार ने कहा–कुछ नहीं पढ़ा तुमने। पढ़ने का तो अब आगे ही है। यह सब बाह्य ज्ञान है। इससे शान्ति नहीं मिल सकती, मन सन्तुलित नहीं हो सकता। मन की शान्ति के लिए उसे पढ़ना होगा, जानना होगा, जो इन सबका अध्येता है। अध्येता को पढ़े बिना समस्त ज्ञान भार होता है। अध्येता का स्मरण ही द्वन्द्वों से मुक्त करता है ।

वह सबसे भिन्न है। उसे किसी जाति–विशेष का मानना भ्रान्ति है। कबीर उस व्यक्ति को भोंदू कहते हैं – **कह कबीर सुण रे भौंदू, बोलनहारा तुरक न हिन्दू**–बोलने वाला न मुसलमान है और न हिन्दू है, न वह कोई कबीरपन्थी है। क्या बोलने वाला कुछ है ? उस बोलने वाले को पढ़ना सम्बोधि है। हम उस सम्बोधि को पढ़ेंगे, उसमें प्रवेश करेंगे, जिसकी चर्चा आचार्यश्री ने आदि से अन्त तक बड़े सरल शब्दों में की है, संस्कृत के श्लोकों में उन तथ्यों का संकलन किया है, उन्हें गूंथा है। धीरे–धीरे उसका पारायण करते–करते हमारी दृष्टि अविद्या से विद्या की ओर, असम्बोधि से सम्बोधि की ओर, अस्त्रोत से स्रोत की ओर हो जाए, सम्बोधि का काम इतना ही है। वह आपको इसका ज्ञान करा सकती है कि आपका जो स्वरूप है, वह यह नहीं है।

'सम्बोधि' एक शिष्य और गुरू का वार्तालाप है। शिष्य है मेघकुमार और गुरू हैं भगवान महावीर। इन संवादों में मेघकुमार के चित्त की अस्थिरता का वर्णन और महावीर द्वारा उसके चित्त के स्थिरीकरण का उपदेश है। आचार्यश्री के कलकत्ता–प्रवास के समय इस कृति की रचना हुई थी। आज इसे लगभग सत्ताईस वर्ष हो गए हैं। इसके प्रकाशन को भी काफी वर्ष हो गए हैं। जब यह रचना प्रकाश में नहीं आयी थी उस समय इसकी एक हस्तलिखित प्रति मेरे

हाथ में आ गई। मुझे वह इतनी पसन्द आयी कि मैंने उसे कंठस्थ करना शुरू कर दिया। मैंने इसे पूरी की पूरी कंठस्थ कर ली। आज अब इसकी स्मृति नहीं है, किन्तु स्मृति के संस्कार नष्ट नहीं होते। मैं अनुभव करता हूं आध्यात्मिक विकास के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रतिदिन दस–पन्द्रह मिनट इसका स्वाध्याय हमें अवश्य करना चाहिए।

लोग धन्धे के लिए, पैसे के लिए कितनी जल्दी दुकान खोल देते हैं। समय पर उगाही (उधार पैसे लाने के लिए लोगों के पास जाना) के लिए निकल पड़ते हैं किन्तु व्याख्यान के लिए कोई निश्चित समय नहीं है। मैं नहीं जानता कि किस दिन भीतर की चेतना पैदा होगी, भीतर की मांग होगी कि हमे सत्संग करना है, सुनना है। जब तक भीतर से मांग पैदा नहीं होती तब तक जीवन की दिशा परिवर्तित नहीं होती । हजारों प्रवचन सुनने के बाद भी मनुष्य वैसा का वैसा है । वह अपने आपको सम्भाल नहीं सका, अपने आपको बदल नहीं सका। अध्यात्म की प्यास भीतर जागृत हो जाए तो व्यक्ति उसे शान्त करने के लिए स्वयं आतुर हो जायेगा। उसकी खोज में निकलेगा और निश्चित रूप से प्रकृति उसकी प्यास को मिटाने में मदद करेगी।

## चित्त का स्थिरीकरण

संबोधि ग्रन्थ के दो पात्र हैं–भगवान् महावीर और मेघकुमार। मेघकुमार सम्राट् श्रेणिक का पुत्र था। सम्राट् श्रेणिक मगध साम्राज्य के सम्राट् थे। मगध राज्य की राजधानी थी राजगृह। भगवान् महावीर का आगमन राजगृह में हुआ। वे राजगृह के एक उद्यान में ठहरे। इस सूचना को प्राप्त कर राजगृह के लोग भगवान् की सन्निधि में आने लगे। उनकी अपनी–अपनी समस्याएं थीं। उनका चित्रण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं–

**नानासंतापसंतप्ताः, तापोन्मूलनतत्पराः ।**
**तमाजग्मुर्जना भूयः, सुचिरां शान्तिमिच्छवः ।।**

लोगों में शाश्वत शांति की प्यास थी। उस शांति को पाने के लिए वे भगवान् के चरणों में आए। शांति की प्यास है–इसका तात्पर्य है कि अशांति के ताप से संतप्त है। अशांति नहीं होती तो व्यक्ति शांति की खोज में नहीं घूमता। आदमी चित्त का स्थिरीकरण चाहता है, इसका तात्पर्य है कि मन चंचल है। मन की चंचलता नहीं होती तो स्थिरीकरण की बात नहीं सोची जाती।

लोगों में भिन्न–भिन्न प्रकार के संताप थे, मानसिक व्याधियां थीं। उन संतापों और व्याधियों का शमन करने के लिए लोग भगवान् के पास आए।

प्यास का होना बहुत जरूरी है। जब तक प्यास नहीं जागती तब तक लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। धर्म की प्यास जगने पर ही धर्म जीवनगत हो सकता है। बिना प्यास के किया गया कार्य उतना

लाभप्रद नहीं होता, जितना लाभप्रद होता है प्यास के जाग जाने पर।

भगवान् स्वयं शांत थे, स्थिर थे। वे बिल्कुल ठहरे हुए थे। ठहरा हुआ आदमी ही दूसरों को ठहरा सकता है। जो स्वयं चंचल है, वह दूसरों को स्थिर नहीं बना सकता। जिस पानी में तरंगें हैं, क्या उसमें आप अपना प्रतिबिम्ब देख पायेंगे ? प्रतिबिम्ब स्थिर पानी में ही देखा जा सकता है। जो साधक स्वयं अस्थिर है, चंचल है, उसके पास जाकर स्थिरता की बात नहीं सीखी जा सकती। शांति वही दे सकता है जो स्वयं शांत है। स्थिरता वही दे सकता है जो स्वयं स्थिर है, ठहरा हुआ है।

महात्मा बुद्ध एक जंगल से गुजर रहे थे। अंगुलीमाल वहीं रहता था। वह उस समय एक छोटी पहाड़ी की चोटी पर बैठा हुआ था। उसने पथिक को जाते देखा। उसने कहा–ठहर जाओ ! बुद्ध ने सुना, पर ठहरे नहीं, चलते रहे। दूसरी बार उसने फिर आवाज दी–ठहर जाओ ! क्या सुना नहीं तुमने ? ठहर जाओ ! बुद्ध रूके नहीं। अंगुलीमाल तत्काल नीचे आकर बोला–कैसे आदमी हो ? मैंने कहा–ठहर जाओ और तुम चलते ही जा रहे हो ? बुद्ध बोले–मैं तो ठहरा हुआ ही हूँ। तू ठहर जा । तू चल रहा है, मैं नहीं। अंगुलीबाल को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला–तुम नहीं जानते मैं कौन हूं ? मैं अंगुलीमाल डाकू हूं। मेरे गले में पहनी हुई मनुष्यों की अंगुलियों की माला इस बात का प्रतीक है कि मैंने कितने आदमियों को मारने में सफलता प्राप्त की है। बुद्ध ने कहा–इसीलिए तो मैं कह रहा हूं कि तू चल रहा है, मैं नहीं। यदि तू ठहरा हुआ होता तो मनुष्यों की हत्याएं नहीं करता। ठहरा हुआ आदमी हिंसा नहीं करता। ठहरा हुआ आदमी असत्य- भाषण नहीं करता। ठहरा हुआ आदमी अनैतिक और अप्रामाणिक व्यवहार नहीं करता। ठहरा हुआ आदमी बाहर में रस नहीं लेता, वह भीतर में रस लेता है। जो आदमी ठहरा हुआ नहीं होता, वह धन से, पदार्थ से चिपक जाता है। जो धन से, पदार्थ से नहीं चिपकता, वह ठहरा हुआ होता है।

अंगुलीमाल समझ गया। उसने सोचा, मैं हिंसा करता हूं, चोरी करता हूं, लोगों को कष्ट भी देता हूं। मैं ठहरा हुआ नहीं हूं, बुद्ध ठहरे हुए हैं। अंगुलीमाल चरणों में नत हो गया। वह साधक बन गया, संत बन गया।

ठहरे हुए व्यक्ति के पास डाकू भी संत बन जाता है। ठहरे हुए व्यक्ति की आलोक–रश्मियां उसमें प्रवेश करती हैं और उसे ठहरने के लिए प्रेरित करती हैं।

महावीर के जीवन में भी ऐसी अनेक घटनाएं घटी हैं। चंडकौशिक सांप चंचल और अस्थिर था। महावीर की दृष्टि पड़ी, वह शांत हो गया, निर्विष हो गया, ठहर गया। अर्जुनमाली जैसा हत्यारा भी महावीर का स्पर्श पाकर महान् साधक बन गया, साधना में ठहर गया। ठहरा हुआ आदमी ही दूसरों को ठहरा सकता है। महावीर ठहरे हुए थे।

इस संसार का नाम है जगत्–जंगम्यते इति जगत्–जो चलता रहता है, वह है जगत्। यहां सब कुछ चंचल है, अस्थिर है। स्थिर जैसा कुछ भी नहीं है। बहुत यथार्थ नाम है। जगत् चलता है। इसका तात्पर्य है कि यहां जो कुछ है वह अस्थिर है। व्यक्ति ठहर जाए तो संसार ठहर जाएगा, परन्तु ठहरना कठिन होता है। जगत् एक प्रवाह है। इस प्रवाह में व्यक्ति चलता रहता है। चलता रहता है। पति भी चलता है, पत्नी भी चलती है। पति भी ताप से ग्रस्त है और पत्नी भी ताप से ग्रस्त है। मालिक भी संतप्त है और नौकर भी संतप्त है। नेता और गुरू भी संतप्त हैं और प्रजा तथा शिष्य भी संतप्त हैं। वह ताप अनेक प्रकार से बाहर निकलता रहता है।

एक आदमी फांसी लगाने के लिए कमरे में गया। रस्सी गले तक नहीं पहुंच पा रही थी। वह स्टूल पर चढ़कर फंदा गले में डालने लगा। इतने में ही पत्नी कमरे में आ गयी। उसने कहा–आप जो काम करना चाहते हैं वह जल्दी करें। मुझे स्टूल की जरूरत है।

बेचारा पति यों ही संतप्त था, पत्नी की इस बात ने उसके संताप को और बढ़ा दिया। ऐसा लगता है कि पत्नी भी ताप से पीड़ित थी, इसीलिए उसने कहा–जल्दी करो, फांसी लगाना है तो जल्दी लगाओ, मुझे स्टूल की आवश्यकता है।

आप यह न सोचें कि पति ही संतप्त होता है। पत्नियां भी संतप्त होती है। एक पत्नी ने अपने पति से पूछा–मैंने सुना है कि भगवान् महावीर के समवसरण में शेर और बकरी साथ–साथ बैठते थे। क्या संभव है ? पति बोला–कोई असंभव नहीं है। जब मैं तुम्हारे साथ रह रहा हूं तो शेर और बकरी का एक साथ रहना कौन–सा कठिन कार्य है ?

यह भी अन्तर की व्यथा है।

आज अमेरिका, रूस, जापान आदि देशों में द्रुतगति से विकास हो रहा है। यह सारा ब्रह्माण्ड विकास है। इस विकास के साथ–साथ ताप भी बढ़ा है, पीड़ाएं भी बढ़ी हैं। भारत इस दौड़ में अभी पीछे है, पर उसकी गति उसी ओर है। हमारी प्यास उसी की प्यास है तो फिर हम उसके परिणामों से कैसे वंचित रह पायेंगें ? कैसे हम ताप और पीड़ाओं से बच पायेंगे ?

लोग पीड़ाओं से मुक्त होने के लिए सत्संग में आते हैं। भगवान् महावीर के पास भी ताप से मुक्त होने के लिए लोग पहुंचते थे। मेघकुमार सम्राट् का पुत्र था। उसके मन में भी एक पीड़ा उभर रही थी। उसने वातायान से देखा कि लोगों की भीड़ एक ही दिशा में प्रस्थित है। उसने पूछा। उत्तर मिला कि परम तपस्वी महावीर पधारे हैं और लोग उनको सुनने के लिए जा रहे हैं। उसके मन में भी भगवान् के पास जाने की इच्छा हुई और वह महावीर के पास आ गया। भगवान् प्रवचन करने लगे। उसने देखा भगवान् को। देखते ही उसकी आंखें तृप्त हो गयीं। वह प्रवचन सुनने लगा। वह प्रवचन में एकाग्र और तन्मय हो गया। उसे प्रतीत हुआ कि भगवान् उसके भीतर की परतें, एक–एक कर, खोल रहे हैं। उस ने सोचा,

आज तक मैंने ऐश्वर्यपूर्ण जीवन जीया, किन्तु मेरी प्यास शांत नहीं हुई। मुझ जो आनन्द मिलना चाहिए, वह नहीं मिला। भोग में आनन्द नहीं है, आनन्द है त्याग में। मुझे आनन्द पाना है तो त्याग के मार्ग पर अग्रसर होना होगा। इधर प्रवचन की धारा प्रवाहित थी, उधर मेघकुमार की विचारधारा बदल रही थी, वह अनुस्रोत से प्रतिस्रोत में प्रवाहित होने लगी थी। प्रवचन संपन्न हुआ। मेघकुमार राजभवन में आया और माता–पिता से बोला–मैं महावीर के पास श्रामण्य स्वीकार करना चाहता हूं। मैं उनका शिष्य बनना चाहता हूं। माता–पिता का आदेश प्राप्त कर उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। वह मुनि बन गया। दिन बीता, रात आयी। यह पहली रात थी। मेघकुमार के लिए यह रात दुःखमय बन गयी। भगवान् महावीर के साथ अनेक मुनि थे। सभी के लिए प्रव्रज्या–काल के अनुक्रम से शयन की व्यवस्था की गयी। मेघकुमार सबसे छोटा मुनि था। उसको सोने का स्थान मिला रास्ते के बीच में। रात्रि में साधुओं के बार–बार आने–जाने से उसकी नींद उचट गयी। वह पीड़ा का अनुभव करने लगा।

मेघकुमार के लिए वह त्रियामा (तीन प्रहरों वाली रात) शतयामा (सौ प्रहरों वाली) हो गयी। सुख की बड़ी रात भी छोटी होती है और दुःख की छोटी रात भी बड़ी हो जाती है। मेघकुमार के लिए क्षण–क्षण भारी हो गया। उसने मन ही मन संकल्प कर लिया कि सूर्योदय होते ही भगवान् के पास जाऊंगा और कहूंगा कि मुझे नहीं चाहिए ऐसा श्रामण्य जो अत्यन्त क्लेशपूर्ण और कष्टमय हो। पहली ही रात में इतनी पीड़ा हुई है तो न जाने जीवन में क्या बीतेगा ? रात बिती। सूर्योदय हुआ। वह सीधा भगवान् के पास आया–

**विधाय वन्दनां नम्रः, विदधत् पर्युपासनाम् ।**
**विनयावनतस्तस्थौ, विवक्षुरपि मौनभाक्।। १/६**

–वन्दना कर, उपासना में बैठ गया। वह कुछ कहना चाहता

था। पर होंठ नहीं खुले। इसे भगवान् के सम्मुख अपनी दुर्बलता की बात कहने में लज्जा का अनुभव होने लगा।

लज्जा एक ऐसा कारगर उपाय है जो जीवन की दिशा को ही बदल देता है । जो व्यक्ति निर्लज्ज हो जाता है, वह बदलता नहीं, पथच्युत हो जाता है। जब तक व्यक्ति में आंख की शर्म रहती है तब तक संभावना रहती है उसके विकास की, उसके सुधरने की। जब व्यक्ति में आंख की शर्म टूट जाती है तब सुधार का रास्ता भी टूट जाता है, अवरूद्ध हो जाता है।

मेघकुमार भगवान् के समक्ष अवाक् रह गया। वह बहुत कुछ कहना चाहता था, पर वाणी अवरूद्ध हो गयी। भगवान् के समक्ष सब कुछ अप्रत्यक्ष था। उन्हें मेघकुमार के मन का उतार–चढ़ाव ज्ञात हो गया।

जैसे गीता का अर्जुन क्लीव बनता है वैसे ही संबोधि का मेघकुमार भी क्लीव बनता है, अधीर बनता है। दोनों की क्लीवता में कुछ अन्तर हो सकता है, पर दोनों की मूर्च्छा में कोई अन्तर नहीं है। अर्जुन भी मूर्च्छित था और मेघकुमार भी मूर्च्छित था। अर्जुन रणभूमि में अपने पारिवारिक जनों को देखकर मूढ़ हो जाता है, मूर्च्छा से अभिभूत हो जाता है और हथियार डाल देता है। वह कहता है–**नाहं योत्स्ये**–अब मैं युद्ध नहीं करूंगा। मेघकुमार देह में आसक्त होकर कष्टों से घबरा जाता है और श्रामण्य को तिलांजलि देने के लिए तैयार हो जाता है, क्योंकि उसकी चेतना पर रागात्मक आवरण पड़ा हुआ है।

भगवान् ने उसकी अधीरता पर चोट करते हुए कहा–मेघ ! तुम इतने अधीर बन गए ? इतने कायर मत बनो। देखो अपने पूर्वजन्म को। उसकी स्मृति करो। मेघ बोला–भगवान् ! मुझे पूर्वजन्म की तनिक भी स्मृति नहीं है। भगवान् बोले–मेघ ! पूर्वजन्म में तुम पशुयोनि में थे। एक हाथी थे। तुम यूथपति थे। तुम्हारे अनुशासन में सात सौ के लगभग हाथी थे। तुम्हें दीर्घकालिकी संज्ञा प्राप्त थी।

तुमने भविष्य के लिए एक बात सोची और जंगल में एक ऐसा स्थान बनाया, जहां आग लगने पर भी सुरक्षित रहा जा सकता है।

एक बार जंगल में अचानक आग लग गई और जंगल के सभी पशु त्रस्त हो गए। तुम अपने यूथ के साथ उस स्थान पर चले गए। हजारों–हजारों अन्य वन्य पशु भी वहां प्राण बचाने के लिए आ गए। वह स्थान प्राणियों से संकुल हो गया। अब एक पशु समा सके, उतना अवकाश भी नहीं रहा। तुम हाथी के रूप में वहां खड़े थे। तुम्हारा शरीर भारी–भरकम था। तुमने खुजली करने के लिए एक पैर को ऊंचा उठाया। उसी समय एक छोटा–सा खरगोश तुम्हारे पैर के ऊपर उठाने के कारण हुए रिक्त स्थान में आकर बैठ गया। तुमने खुजली कर पैर को नीचे रखना चाहा। तुमने नीचे देखा। पैर रखने के स्थान पर एक खरगोश बैठा है। तुमने सोचा–पैर रखूंगा तो खरगोश का कचूमर निकल जायेगा। तुमने पैर को अधर में ही रखा। दावानल शांत हुआ। सभी पशु अपने–अपने गन्तव्य की ओर चले गए। तब तुमने पैर को नीचे रखने का प्रत्यन किया। किन्तु ढ़ाई दिन एक ही स्थिति में रहने के कारण पैर अकड़ गया था। पैर को नीचे रखने के प्रयत्न में समूचा शरीर असंतुलित हो गया। तुम शरीर को संभाल नहीं सके। धड़ाम से भूमि पर गिर पड़े। उस समय तुमने असह्य शारीरिक और मानसिक कष्ट सहे। उस समय तुम न मनुष्य थे, न सम्यक्त्वी थे और न संयमी। फिर भी तुमने उस महान् वेदना को समता से सहा–

**शुभेनाध्यवसायेन, लेश्यया च विशुद्धया।**
**संसारः स्वल्पतां नीतो, मनुष्यायुस्त्वयार्जितम् ।। १/२४**

उस समय तुमने मनुष्य–आयुष्य का बंध किया, मानव–शरीर में आने का उपक्रम किया। उस समय तुम्हारे अध्यवसाय और तुम्हारी भावधारा बहुत विशुद्ध थी। उस पवित्रता के कारण तुमने अपना भव–भ्रमण सीमित कर दिया और तुम मनुष्य योनि में आ गए। जब भावधारा विशुद्ध नहीं होती तो आदमी समता का अनुभव

नहीं कर सकता। वह हिंसा पर उतर जाता है। लेश्या की विशुद्धि आदमी को अहिंसा की ओर ले जाती है, आदमी को ईमानदार और नैतिक बनाती है। जब अशुद्ध लेश्या की प्रबलता होती है तब संत भी डाकू बन जाता है और जब शुद्ध लेश्या की प्रबलता होती है तब डाकू भी संत बन जाता है।

भगवान् ने कहा–मेघ ! तुमने उस हाथी के भव में पैर नीचे इसलिए नहीं रखा कि नीचे रखने से खरगोश मर जाता। उस हिंसा से बचने के लिए तुमने पैर ऊपर उठाए रखा। अपार कष्ट हुआ। पर कष्ट को समभाव से सहा। तुमने सोचा–**देहे दुःख महाफलं**– शरीर में दुःख आए, वेदना आए, उसको समभाव से सहना महान् फलदायक होता हैं । तुमने जीवन की ऊर्ध्वयात्रा प्रारम्भ कर दी। संसार जो बहुत दीर्घ है, उसको छोटा कर दिया। तुम पशुयोनि से सीधे मनुष्य योनि में आ गए। मनुष्य में भी सम्राट के यहां पुत्ररूप में जन्मे। कहां हाथी का जीवन और कहां राजकुमार का जीवन ! इस जन्म–प्राप्ति का मुख्य कारण था–**अहिंसा साधिता सत्त्वे, कष्टे च समताश्रिता**– प्राणियों के प्रति तुमने अहिंसा की साधना की और कष्टों में समता रखी।

कष्ट आते हैं, पर उनमें सन्तुलन बनाए रखना संबोधि का उपदेश है। असंतुलन अनेक अनर्थ पैदा करता है। बड़े–बड़े डॉक्टर, वैज्ञानिक और विद्वान् जब किसी कारण से असंतुलित हो जाते हैं तब वे आत्महत्या करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसका कारण है कि उनके पास संबोधि की कला नहीं है, जीवन जीने की सही कला नहीं है। उनमें कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक नहीं है।

महावीर ने कहा–मेघ ! कष्टों में समभाव रखना और प्राणियों के प्रति अहिंसा–दया करना संबोधि की साधना है। दूसरों को न सताना, न पीड़ित करना बहुत बड़ी साधना है। यही अहिंसा है।

दिल्ली के बादशाह की सेवा में एक आदमी रहता था। एक दिन उसने कहा–जहांपनाह ! मैंने आपकी खूब सेवा की। अब मैं अपना

जीवन खुदा की खिदमत में लगाना चाहता हूं। आपसे मुझे रोटी, कपड़ा, मकान मिला। और भी बहुत कुछ मिला। पर अब मैं खुदा की सेवा करना चाहता हूं ।अब मैं जा रहा हूं । बादशाह बोला – तुम खुदा की वन्दगी करना चाहते हो, यह बहुत श्रेष्ठ कार्य है ! जीवन का अन्तिम साध्य यही है । बादशाह ने उसे प्रेमपूर्वक विदाई दी । बहुत कुछ धन–सम्पत्ति दी । बादशाह को सलाम कर वह मक्का की यात्रा के लिये चल पड़ा । मार्ग में एक जंगल आया, वहां उसने एक कुटिया देखी । झोंपड़ी में एक ओलिया फकीर रहता था । उसने सलाम किया । फकीर ने पूछा–भाई ! कहां जा रहे हो ? वह बोला–मैं मक्का जा रहा हूं । फकीर ने प्रश्न किया– क्यों जा रहे हो मक्का? उसने उत्तर दिया– खुदा की वन्दगी करने के लिए । फकीर हंसा और बोला – क्या खुदा की वन्दगी के लिए मक्का जाना पड़ता है ? क्या खुदा यहां नहीं है ? तुम जहां हों वहीं खुदा है। खुदा के लिए मक्का जाने की जरूरत नहीं है । यहीं बैठ जाओ ! मन को खुदा में लगा दो। वह वहीं बैठ गया। आसन लगा दिया। मन को निश्चल बना दिया। खुदा का बोध उसे वहीं हो गया । भीतर का खुदा प्रकट हो गया ।

उसके चेहरे पर चमक आ गई । चारों ओर उसकी सौरभ फैल गई।

दूर–दूर से लोग दीदार पाने आने लगे । उसकी कीर्ति बादशाह के कानों तक पहुंच गई । बादशाह के मन में दर्शन की उत्कण्ठा जागी । एक दिन फकीर का दर्शन करने बादशाह जंगल में चला आया । कुटिया में देखा– फकीर सोया हुआ है । बादशाह ने द्वार पर दस्तक दी । फकीर ने पूछा कौन है ? बादशाह ने कहा – मैं दिल्ली का बादशाह हूं । उसने सोये–सोये ही कहा– आ जाओ भीतर। बादशाह ने भीतर जाते ही देखा –अरे ! यह तो वही सेवक है । मैं आया और खड़ा भी नहीं हुआ । पैर पसारे पड़ा है । बादशाह ने गुस्से को अपने बाहर नहीं आने दिया । उसने प्रश्न किया पैर

पसारे कब से ? फकीर ने उत्तर में कहा– हाथ सिकोड़े जब से ? आदमी जब तक याचक बना रहता है तब तक वह पैर नहीं पसार सकता, उसे दूसरो को सम्मान देना ही पड़ता है । जब चाह छूट जाती है तब आदमी स्वयं बादशाह बन जाता है ।

बादशाह ने दूसरा प्रश्न किया– तुम तो गये थे मक्का । फकीर बोला– जब ज्ञान नहीं था पक्का ! मेरा ज्ञान परिपक्व नही था । जिसका ज्ञान निर्मल होता है परिपक्व होता है उसे मक्का जाने की क्या जरूरत है ? उसके लिए मक्का सर्वत्र है।

बादशाह ने प्रश्न करते हुए पूछा–तुमने क्या पाया ? उसने हंसते–हंसते कहा – पहले मैं आता था आपके पास, अब आप आये मेरे पास । पहले मैं आपकी वन्दगी/ सेवा करता था । अब मेरे दर्शन करने, वन्दगी करने आप दिल्ली से चलकर आए हो । यह क्या कम उपलब्धि है ?

बादशाह फकीर की बातों से बड़ा प्रसन्न हुआ । उसे प्रतीत हुआ कि निश्चय ही इसने जीवन के सत्य को पाया है ? इसकी अनासक्ति बता रही है । निस्पृहता कण– कण में झलक रही है । बादशाह ने जाते जाते पूछा– मेरे लिए भी कोई संदेश ! फकीर ने कहा –किसी को मत सताओ । सबके प्रति रहम रखो । सबके साथ भाईचारे का व्यवहार करो ! रहम करना ही बड़ा धर्म है ।

जब जीवन में अहिंसा का अवतरण होता है, विचारधारा शुद्ध होती है, आगुन्तक कष्टों को समभावपूर्वक सहने की क्षमता जागती है, तब प्राणी पशु योनि से मनुष्य योनि में छलांग लगाता है । जो मनुष्य क्रूर बनता है, आसक्त और लोभी बनता है, राग द्वेष में जीता, है वह मनुष्य योनि से नीचे चला जाता है पशु बन जाता है ।

मेघकुमार महावीर की बातों में तन्मय हो गया । पूर्वजन्म की स्मृति हो गई और वह वहां पहुंच गया । महावीर ने कहा–

**ईहापोहं मार्गणाञ्च, गवेषणाञ्च कुर्वता ।**
**तेन जातिस्मृतिर्लब्धा, पूर्वजन्म विलोकितम् ।।१/४०**

उसने अपने पूर्व जन्म को देखा । चलचित्र की भांति उसके पूर्व जीवन की घटनाएं एक–एक कर सामने आने लगी । मन में कल्पना और विचार पैदा हो रहे थे । उसे स्पष्ट अनुभव हो रहा था कि वह किसी दूसरे जगत में उतर रहा है । एकाग्रता सधी और वह उस जीवन से तदात्मक हो गया । वही वन, वही हाथियों का झुण्ड, दावानल, खरगोश आदि सब कुछ उसने देखे । भगवान के कथानुसार वह प्रत्येक स्थिति का अनुभव करने लगा । भगवान बोले मेघ ! हाथी के भव की वेदना की तुम तुलना करो । हाथी के रूप में तुमने जितनी वेदना को सम भाव से सहा, क्या आज के रात की वेदना उतनी तीव्र थी ? भूमि का स्पर्श कठोर था? तुम्हारी नींद उचट गयी थी । पर क्या यह उस वेदना की तुलना में आ सकती है ?

मेघ ने कहा–हन्त। हन्त ! "समर्थोयमर्थो यश्च त्वयोदितः"। प्रभो ! जो आपने कहा वह सच है, सही है । मैं देख रहा हूं उस कष्ट के सामने यह कष्ट नगण्य है, लेकिन मुझे उसकी स्मृति नहीं थी ।

हमें भी पूर्व जन्म की स्मृति नहीं है । यदि हमें उसकी स्मृति हो जाये तो एक नया अनुभव होगा । जिनको जाति स्मृति होती है, उसके जीवन के रूपान्तरण घटित हो जाता है । जाति स्मृति की घटनाओ से जैन और बौद्ध साहित्य भरा पड़ा है । वैदिक साहिंत्य में भी अनेक उल्लेख मिलते हैं ।

प्रश्न होता है कि पूर्वजन्म का ज्ञान कैसे हो सकता है ? क्या पूर्वजन्म को देखने की क्षमता सबमें होती है ?

पूर्व जन्म की क्षमता मनुष्यों और पशुओं में होती है, लेकिन वह उन्हीं में होती है जो मन युक्त – संज्ञी पञ्चेन्द्रिय होते हैं। शक्ति होने के बावजूद भी सबमें हो यह आवश्यक नहीं है। इसके लिए अनुकूल संयोग व ज्ञान के आवरण की मन्दता भी अपेक्षित है। जिसका मन और जिसकी बुद्धि निर्मल होती है, उसे पूर्व जन्म की स्मृति हो सकती है। शास्त्र–बोध के आधार पर, योगज उपलब्धि के आधार पर अथवा ऋजुता के आधार पर भी पूर्वजन्म की स्मृति हो

जिनका अनुभव किया है, उन पर एकाग्रता बढ़ने पर अतीत की स्मृति हो जाती है। जाति–स्मृति में उतारने वाला व्यक्ति यदि प्राप्त होता है तो उसके माध्यम से भी वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है। महावीर और बुद्ध जैसे जागृत व्यक्तियों के माध्यम से यदि कोई व्यक्ति अतीत में उतरता है तो वह संबोधि की दिशा में प्रस्थित होता है। ऐसे जागृत व्यक्ति स्रोतापन्न की दिशा में ले जाते हैं, अविद्या से विद्या की दिशा में ले जाते हैं। भगवान महावीर ने यही तो किया कि जो मेघकुमार अस्थिर हो चुका था, विक्षिप्त चित्त हो चुका था, जो घर जाने के लिए उद्यत था, उसको स्थिर बना दिया, श्रामण्य में पुनः प्रतिष्ठापित कर दिया।

महावीर को सुनकर मेघकुमार गद्गद् हो गया। उसकी क्लीबता नष्ट हो गयी। उसमें नयी चेतना जागी। वह भगवान् के चरणों में नतमस्तक होकर बोला–आपने मेरे पर बड़ा अनुग्रह किया, करूणा की। मैं गिर रहा था। आपने मुझे थाम लिया।

'सम्बोधि' का सृजन इसी आधार पर हुआ है। इसमें मेघकुमार के माध्यम से संबोधि के उन तत्वों को प्रस्फुटित किया गया है, जिनका जीवन के साथ साहचर्य है, जो जीवन–विकास के आवश्यक अंग है, आधारभूत हैं।

मेघकुमार अन्त में कहता हैं–''संदेहानां विनोदाय, जिज्ञासामि च किंचन।'' – प्रभो ! अब मैं स्थिर हो गया हूं, ठहर गया हूं। मेरे मन में कुछेक जिज्ञासाएं हैं। मैं चाहता हूं कि मैं अपनी जिज्ञासाओं का समाधान आपसे पा लूं। आप मेरे पर अनुग्रह करें।

यहीं से सम्बोधि ग्रन्थ का आरम्भ होता है। मेघकुमार जिज्ञासा करता है और भगवान् महावीर उसका समाधान देते हैं। आगे के पन्द्रह अध्यायों में जीवन को स्पर्श करने वाली सब जिज्ञासाएं और समाधान हैं। कुछेक प्रवचनों में ही उनको हम समेट सकें, वह सम्भव नहीं है। फिर भी हम चलने का प्रयत्न करें, पुरुषार्थ करें तो संबोधि का दीया हमारे भीतर भी जल सकता है।

## सुख की समीक्षा : १

राजगृह का उपवन। अशोक वृक्ष के नीचे महावीर और उनकी शिष्य मंडली बैठी है। मुनि मेघकुमार ने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा–

**सुखानि पृष्ठतः कृत्वा, किमर्थं कष्टमुद्वहेत् ?**
**जीवनं स्वल्पमेवैतत्, पुनर्लभ्यं न वाऽथवा ।। २/१**
**सुखं स्वाभाविकं भाति, दुःखमप्रियमंगिनाम् ।**
**तत् किं दुःखं हि सोढव्यं, विहाय सुखमात्मनः ।। २/४**

भंते ! साधना के पश्चात् सुख की ही तो प्राप्ति होती है, तब फिर प्राप्त सुखों का त्याग कर कष्टों को क्यों निमन्त्रण दिया जाए ? सुख को छोड़कर, दुःख का वरण करना, कौन–सी समझदारी है ? यह जीवन भी अल्पकालिक है। एक बार मिला है, पुनः मिले या न मिले, यह ज्ञात नहीं है। इसलिए इस छोटे–से जीवन में प्राप्त सुखों को छोड़कर भावी सुख की कल्पना करना, विचित्र–सा लगता है। सुख स्वाभाविक है, सबको प्रिय है। कोई भी दुःख नहीं चाहता। साधना का मार्ग है–सुख का त्याग और दुःख का स्वीकार। इसलिए प्राप्त सुख को छोड़कर कष्ट क्यों सहा जाए ? भंते! आपकी बात मेरी समझ में नहीं आ रही है, गले नहीं उतर रही है। आप इसे और स्पष्ट करें।

भगवान् बोले –

**सुखासक्तो मनुष्यों हि, कर्तव्याद् विमुखो भवेत् ।**
**धर्मे न रूचिमाधत्ते, बिलासाबद्धमानसः ।। २/२**
**कर्तव्यं चाप्यकर्तव्यं, भोगासक्तो न शोचति ।**
**कार्याकार्यमजानानो, लोकश्चान्ते विषीदति ।। २/३**

वत्स ! मैं तुझे अनुभव की बात बता रहा हूं। मैंने केवल जाना ही नहीं है, अनुभव भी किया है। सुख आदमी को अपने से बहुत दूर ले जाता है। सुखों में आसक्त व्यक्ति कर्तव्य और अकर्तव्य से अनभिज्ञ रहता है। ऐसा व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं हो सकता । सुखी व्यक्ति धर्म के उन्मुख नहीं होता या कम होता है। उसकी दृष्टि में इन्द्रिय–सुख ही सब कुछ होता है। वह इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है और येन–केन–प्रकारेण सुखों को उपलब्ध करने की चेष्टाएं करता है। इसलिए–धर्म में, आत्म–स्वभाव में उसका रमण नहीं होता। एक बात और है – **''यत् सौख्यं पुद्गलैः सृष्टं, दुःखं तद् वस्तुतो भवेत्''**– जो सुख पौद्गलिक है, पुद्गलों से प्राप्त होता है, वह सुख नहीं, यथार्थ में वह दुःख ही है। जो सुख पदार्थजन्य होता है, वह सुख नहीं दुःख है। किन्तु जब तक व्यक्ति दृष्टिमूढ़ता से घिरा हुआ है, चेतना पर दर्शन का आवरण आया हुआ है तब तक वह सही तत्व का चिन्तन नहीं कर सकता, सही तत्त्व का बोध उसे नहीं होता – **''दृष्टिमोहेन मूढ़ोऽयं, सत्तत्वं नैव विद्न्ति''**। बिना सत्य का बोध किए व्यक्ति सुख और शांति को नहीं पा सकता।

इस दुनिया में अनगिन प्राणी आ रहे हैं, जा रहे हैं, यह अनुभव सभी करते हैं। किन्तु आने–जाने वाले सभी प्राणी मूढ़ता में आते हैं और मूढता में ही जाते हैं, यह बहुत कम लोग अनुभव कर पाते हैं। महावीर, बुद्ध आदि महान् आत्माओं ने यह अनुभव किया और बताया कि करोडों में एक–दो व्यक्ति ही सचेतनता में, अमूढ़ता में पैदा होते हैं, आते हैं, जाते हैं। शेष सारा जगत् गहरी मूढ़ता में जीता है। इतनी गहरी मूढता है कि आदमी को कुछ होश भी नहीं है। इसी जीवन में इस मूढता को तोड़ा भी जा सकता है। 'मूढता से हम मुक्त नहीं हो सकते', यह नहीं मानना चाहिए। हम उससे मुक्त हो सकते है। 'मूढता अनादि है, पर अनन्त है', यह नहीं मानना चाहिए। वह अनादि हो सकती है, पर अनन्त नहीं हो सकती है। उसका अन्त आता है। इसका अन्त नहीं होता तो महावीर महावीर नहीं बनते, बुद्ध बुद्ध नहीं

बनते, कबीर कबीर नहीं बनते, नानक नानक नहीं बनते। मूढ़ता को तोड़े बिना कोई महान् नहीं बनता।

हम जो कुछ देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं, वह सारा उल्टा ही उल्टा है। यदि हम इस उल्टे बर्तन को सीधा कर दें, उपर की ओर मुंह कर दें तो परमात्मा की अमृतवर्षा इसमें हो सकती है, अमृत की कोई बूंद इसमें गिर सकती है। यदि बर्तन को औंधा ही रहने देंगे तो उसमें वर्षा की एक बूंद भी नहीं गिर पाएगी। उल्टेपन को हमने अनेक जन्मों से स्वीकार कर रखा है। यदि हम इस औंधेपन को छोड़ कर सीधेपन को स्वीकार करते हैं तो हमें सत्य का साक्षात्कार हो सकता है परन्तु आदमी औंधेपन को छोड़ नहीं पाता। महावीर मेघ के प्रश्न पर हंस रहे हैं, क्योंकि वे स्वयं सीधे हो गए हैं, औंधेपन को त्याग चुके हैं।

प्रव्रज्या अधोमुख से छुटकारा पाने की दिशा में एक कदम है। उसके स्वीकारमात्र से अधोमुख छूट नहीं जाता। उससे छुटकारा एक क्षण में भी हो सकता है और हजार वर्षो में भी नहीं हो सकता। यह अपने–अपने पुरूषार्थ पर निर्भर करता है। मेघ पव्रजित हो गया, पर अभी उसका औंधापन सर्वथा छूटा नहीं है।

महावीर कहते है–वत्स ! जिस सुख का तुमने अनुभव किया है, उस सुख को मैंने भी अनुभव किया है। तुम राजमहलों में रहे, मैं भी राजमहलों में रहा। जिन सुख–सुविधाओं का तुमने उपभोग किया, मैंने भी उनका प्रयोग किया। लेकिन मैंने देखा, वह पदार्थजन्य सुख आ रहा है, जा रहा है। इन्द्रिय विषयों का उपभोग क्षणिक सुख देता है। वह होता है, क्षणभर टिकता है और मिट जाता है। फिर दुःख घेर लेता है। एक महिला ने एक करोड़पति व्यक्ति से शादी की। अपार वैभव और सुख–सुविधाएं थीं। कुछ दिनों बाद वह महिला तलाक की बात सोचने लगी। उसने अपनी मां से कहा। मां बोली–बेटी ! तूने अपनी पसंदगी से शादी की है। अभी कुछ ही दिन बीते हैं। तेरे पास अपार सम्पत्ति है। फिर तलाक क्यों लेना चाहती है? वह बोली–मां !

सब कुछ है ! पर शादी के समय मेरे पति ने मुझसे झूठ कहा है कि वह सत्तर वर्ष का है। अब वह कह रहा है कि उसकी उम्र पचास वर्ष की है। मां बोली—बेटी ! इससे तो तुझे प्रसन्नता होनी चाहिए। अधिक दिन सुहाग रहेगा। बेटी बोली—मां ! तुम नहीं समझती। यदि वह सत्तर वर्ष का होता तो जल्दी ही मुझे सम्पत्ति का अधिकार मिल जाता। अब न जाने कब.........?

इस महिला को प्रारम्भ में सुख तो मिला, पर वह टिका नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वे दिन आते हैं, रातें आती हैं, जब उसको सुख की अनुभूति होती है, पर फिर दुःख आ घेरता है। दुनिया में ऐसा एक भी आदमी नहीं मिलेगा जो यह कहने का साहस करे कि मैं पूर्णरूप से सुखी हूं। प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर दुःखों का अंबार लिये घूम रहा है, फिर भी वह सुख की अनुभूति करने का दावा करता है। कोई व्यक्ति दीक्षा लेता है, साधना के मार्ग पर चलने के लिए कदम बढ़ाता है, सर्वत्याग के मार्ग पर बढ़ता है तो लोग कहते हैं—बड़ा कंटकाकीर्ण मार्ग है, कष्टप्रद मार्ग है। मैं पूछना चाहता हूं कि आप जिस जीवन को जी रहे हैं, क्या वह कांटों से भरा हुआ नहीं है ? क्या वह दुःखों से आकीर्ण नहीं है ? संत तो कहते है कि संसारी प्राणी जिन दुःखों का अनुभव कर रहा है, साधना के पथ पर चलने वालों के लिए उन दुःखों का शतांश भी दुःख नहीं होता। किन्तु आदमी दुःख के साथ इतना घुल—मिल गया कि उसे दुःख की प्रतीति ही नहीं होती। वह उसी को सुख मानकर चलता जा रहा है।

अभी मैंने एक पत्रिका में पढ़ा। भारत से कुछ साधक प्रचार के लिए विदेश गए। उन्होंने स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क की यात्राएं कीं। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उन देशों में जितनी संख्या में विद्यालय हैं, उतनी ही संख्या में पागलखाने हैं। उनके मन में प्रश्न हुआ—ऐसा क्यों ? वहां के एक साधक से पूछा। उसने सटीक उत्तर देते हुए कहा—इतने पागलखानों के होने का मूल कारण यह है कि

यहां के लोग मन और इन्द्रियों पर अधिक निर्भर है। यह बात बहुत मार्मिक है और सटीक है। लोग आक्षेप की भाषा में कह देते हैं कि महावीर और बुद्ध दुःखवादी धारा के प्रवर्तक थे। इसका पुष्ट प्रमाण है कि वे यह कहते हैं–जन्म दुःख हैं, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मरण दुःख है। क्या कहा जाए–यह सारा संसार दुःख बहुल है ? किन्तु यह आक्षेप गलत है। वे दुःखवादी नहीं थे, यथार्थवादी थे। वे जानते थे कि दुःख दुःख है और इस दुःख से ही महान सुख का सृजन होता है। कहना यह चाहिए कि पाश्चात्य परम्परा सुखवादी परम्परा है और भारतीय परम्परा आनन्दवादी परम्परा है। यहां सुख और दुःख की खोज नहीं रही। यहां रही आनन्द की खोज। आनन्द की उपलब्धि कैसे हो, यह यहां की मुख्य बात थी। महावीर और बुद्ध आनन्द की खोज में ही निकले थे, सुख की खोज में नहीं। सुख तो महावीर और बुद्ध के चरणों में समर्पित था। उन्हें सारी सुविधाएं प्राप्त थीं। दोनों राजकुमार थे। भला राजकुमार के पास क्या कमी रह सकती है ? बुद्ध तरूण थे, अभी–अभी उनका विवाह हुआ था। एक नन्हा–सा बच्चा मां की गोद में पल रहा था। अचानक एक रात उनका मन आनन्द पाने के लिए तड़प उठा। मध्यरात्रि के समय वे उठे, पत्नी के गुलाब–से चेहरे को निहारा, पुत्र की ओर दृष्टि डाली और घर से निकल पड़े, आनन्द को प्राप्त करने के लिए। सुख उन्हें प्राप्त था, आनन्द उन्हें प्राप्त करना था। उनके अभिनिष्क्रमण का यही एकमात्र हेतु था। बुद्ध साधना में लीन हो गए। उन्हें बोधिलाभ हुआ और उनका कोना–कोना बोधि के आलोक से जगमगा उठा। उन्होंने तब मन को संबोधित कर कहा–हे मन ! आज तक तुम घर बनाते रहे, मुझे घर का भ्रम कराते रहे। आज मुझे मेरा वास्तविक घर मिल गया है, अब तुम भाग जाओ। यहां से चले जाओ। तुम्हारा काम हो गया।

आज व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नहीं है। वह दुःख को ही सुख मान बैठा है। भारतीय दार्शनिकों ने एक स्वर से कहा–जन्म भी दुःख

है और मृत्यु भी दुःख है। शायद ही किसी पश्चिमी विचारक ने ऐसी बात कही हो। जब जन्म दुःख है और मृत्यु भी दुःख है तो इनके बीच में सुख कहां से आएगा? जन्म का प्रत्येक क्षण मृत्यु से संबंधित है, फिर सुख कैसा ? यह सुख की कल्पना केवल मतिभ्रम है, मिथ्या दृष्टिकोण है।

भगवान् कृष्ण ने कुन्ती से कहा–मांगो, क्या चाहती हो ? वह बोली–भगवन्! आप मुझे वरदान देना चाहते हैं तो यह वरदान दें कि मेरे पर कष्ट आता रहे, दुःख आता रहे। कैसी विचित्र बात है ? सर्वत्र सुख की मांग की जाती है, पर कुन्ती दुःख की मांग कर रही है, आश्चर्य। कृष्ण ने पूछा–दुःख की मांग क्यों ? सारी दुनिया सुख की चाह करती है, फिर तुम दुःख क्यों चाहती हो ? वह बोली–भगवन् दुःख इसलिए चाहती हूं कि आपकी स्मृति निरन्तर बनी रहे। सुख में आपकी स्मृति आंखों से ओझल हो जाएगी, मैं आपको भूल जाऊंगी। आपको विस्मृत करना ही सबसे बड़ा दुःख है। इसलिए दुःख की याचना कर मैंने आपसे सुख ही मांगा है।

कबीर कहते हैं–

**सुख के माथे सिल पड़ो, जो नाम हृदय से जाय।**
**बलिहारी वा दुःख की, पल पल राम रटाय ।।**

महात्मा भूरीबाई कहती है–

**जीवन में आवै नहीं, जब लग संकट घोर ।**
**तब लग नर क्यों कर हुवै ? परमेश्वर की ओर ।।**

मनुष्य परमेश्वर की ओर प्रस्थान कैसे कर सकता है ? सुख में परमात्मा की ओर होना अत्यन्त कठिन है। दुःख ही आदमी को उस ओर अग्रसर कर सकता है।

लोग मानते हैं कि पश्चिमी देशों के निवासी सुखी है, क्योंकि उनके पास अपार धन है, वैभव है, सुख–सुविधाएं हैं। यह बात एक पक्ष से सही है। उनके पास अर्थार्जन के अनेक स्त्रोत हैं और वे धनाढ्य हैं। पर वे अत्यन्त दुःखी हैं, क्योंकि वे निरन्तर

तनाव–ग्रस्त रहते हैं। महावीर कहते हैं कि भोगासक्त व्यक्ति अपने कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं जान पाता। वह निरन्तर कुछ करता रहता है और तनाव में फंस जाता है। सुख – सुविधाएं तनाव पैदा करती हैं। मानसिक तनाव, शारीरिक तनाव और भावनात्मक तनावों से छूट ही नहीं पाते और उस झूठे सुख की आसक्ति में दुःख के निकट चले आते हैं। वास्तव में पदार्थ के साथ जो सुख आ रहा है, वह सुख नहीं है, दुःख ही है। हम सुखी प्रतीत होने वाले मनुष्यों को देखकर मान लेते हैं कि वे सुखी हैं। पर वे व्यक्ति भी परम दुःख का अनुभव करते हैं और अपने को परम दुःखी मानते हैं।

शालिभद्र एक धनाढ्य पिता का पुत्र था। अपार वैभव और सुख–सम्पत्ति में कहीं कुछ न्यूनता नहीं थी। रूप और सुकुमारता भी प्राप्त थी। एक बार मगध सम्राट श्रेणिक घर आए। शालिभद्र की मां ने सम्राट् का स्वागत कर एक सज्जित कक्ष में बैठाया। मां ने एक सेवक को ऊपर भेजकर शालिभद्र से कहलवाया–बेटा ! आज मगध सम्राट् अपने घर आये हैं, तुम नीचे आओ। शालिभद्र ने मां का आदेश सुना। वह अवाक् रह गया। उसने सोचा–कौन सम्राट् ! कैसा सम्राट् ? मैं हूं सम्राट् । उसने सेवक से कहा–जाओ, मां से कह दो जितना मूल्य देकर उस चीज को खरीदना चाहे, खरीद ले, मुझे पूछने की आवश्यकता नहीं है। मां ने यह सुना। वह तत्काल ऊपर जाकर बोली–बेटा ! सम्राट् कोई खरीदी जाने वाली वस्तु नहीं है। वे हमारे स्वामी है। नीचे आओ और उन्हें प्रणाम करो।

बस, एक 'स्वामी' शब्द ने शालिभद्र के जीवन को झकझोर दिया। उसी क्षण परिवर्तन घटित होने की नौबत आ गयी। उसने सोचा–अरे, मेरे स्वामी ! मेरे ऊपर भी स्वामी है ! मैं अपना स्वामी नहीं हूं ? बस, मैं संसार का सबसे दुःखी व्यक्ति हूं। अब मुझे अपना स्वामी बनना होगा।

शालिभद्र उसी क्षण घर का त्याग कर 'स्व–स्वामी' बनने के लिए निकल पड़े ।

आज संसार में सभी दूसरों के स्वामित्व में जीवन–यापन कर रहे हैं। इस स्थिति में, इस परवशता में कैसा सुख ! सुखी वही होता है जो स्ववश है, जिसे अपने पर अपना अधिकार प्राप्त है।

महावीर मेघ से कहते हैं–मेघ ! तुम यह जो सोच रहे हो कि बाह्य सुखों से सम्पन्न व्यक्ति दुःख का मार्ग क्यों स्वीकार करूं ? मेघ ! ऐसा सोचना मूढ़ता है। संयम–मार्ग दुःखों का मार्ग नहीं है। यह आनन्द और शाश्वत सुख की खोज का मार्ग है। इसी खोज पर तुम निकले हो।

मेघ ! मूढ़ता दो प्रकार की होती है–दर्शनमूढ़ता और चारित्रमूढ़ता। दूसरे शब्दों में दृष्टिकोण की अयथार्थता और आचरण की विपरीतता। दृष्टि की मूढ़ता हमें अपने अस्तित्व का बोध नहीं होने देती और आचरण की मूढ़ता हमें सही दिशा में चलने नहीं देती। जब तक ये दोनों शुद्ध नहीं होतीं तब तक आनन्द अत्यन्त दुर्लभ है।

मेघ ने पूछा–भन्ते ! दुःख के कारण क्या हैं ? भगवान् बोले–मेघ ! दुःख के मूल हेतु दो हैं –राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता। हम दो ही आंखों से देखते हैं। या तो हम प्रियता की आंख से देखते हैं या अप्रियता की आंख से देखते हैं। हमारी तीसरी आंख है समता की। वह बंद ही रहती है।

जहां राग है वहां द्वेष की अनिवार्यता है और जहां द्वेष है वहां राग की अनिवार्यता है। केवल राग या केवल द्वेष नहीं होता। होंगे तो दोनों होंगे, अन्यथा दोनों नहीं होंगे। इसी प्रकार जन्म और मृत्यु, लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, निन्दा और प्रशंसा, मान और अपमान–ये सारे द्वन्द हैं, युगल हैं। एक होगा तो दूसरा अवश्य ही होगा। ब्रह्मा भी इसे नहीं टाल सकता। आदमी जीना चाहता है, मरना नहीं चाहता। यह उसकी एक मूढता है। जो जन्मता है वह अवश्य ही मरता है और जो मरता है वह अवश्य ही जन्म लेता है। ये सारे युगल साथ–साथ चलते हैं। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि वह एक पक्ष को स्वीकार नहीं करती, वह दोनों पक्षों को

देखती है। उसने विधि को देखा तो निषेध को भी देखा। दार्शनिकों ने कहा—भाव और अभाव के बीच में एक कड़ी जुड़ जाए। तुम न राग की ओर जाओ और न द्वेष की ओर बढ़ो। तुम तटस्थ रहो। इन्द्रियों के विषय तुम्हारे सामने आएंगे। सारी इन्द्रियां अपना—अपना काम करेंगी। आंख देखेगी, कान सुनेगा, चीभ चखेगी, नाक सूंघेगी और स्पर्शन स्पर्श का अनुभव करेगा। **''न रोद्धुं विषयाः शक्याः विशन्तो विषयि व्रजे''**। विषयों को रोका नहीं जा सकता। नाक सुगन्ध को भी ग्रहण करेगी और दुर्गन्ध को भी ग्रहण करेगी। नाक को बन्द कर अधिक समय तक नहीं रहा जा सकता। इसी प्रकार सभी इन्द्रियां अपना—अपना काम करेंगी। उनके साथ जुड़ना न जुड़ना तुम्हारे हाथ में है। तुम अच्छे के साथ भी मत जुड़ो और बुरे के साथ भी मत जुड़ो। तटस्थ रहो। पर यह बात बड़ी कठिन है। हमारे पर अपना अनुशासन नहीं है, हम अपने मालिक नहीं है। यही कठिनाई है। मनोनुकूल भोजन आता है और आदमी खूब खा लेता है। अप्रिय भोजन आता है आदमी भूखा रह जाता है। वह नहीं जानता कि भोजन स्वास्थ्य के लिए किया जाता है, स्वाद के लिए नहीं। पर आदमी स्वाद के लिए खाता है, स्वास्थ्य के लिए नहीं। इसलिए वह उसके परिणामों से बच नहीं पाता।

महावीर बार—बार कहते हैं—तुम विषयों के साथ मत जुड़ो। यदि तुम समाधि चाहते हो, शांति चाहते हो तो विषयों के प्रति राग—द्वेष मत करो। जो है, उसे स्वीकार करो। राग भी चिपकाव लाता है और द्वेष भी चिपकाव लाता है। राग—द्वेष से मुक्त क्षण विषयों से न जुड़ने के क्षण हैं।

महावीर कहते हैं—मोह से तृष्णा होती है। जिसने मोह का नाश कर डाला, उसने तृष्णा को नष्ट कर डाला। जिसमें तृष्णा नहीं रहती उसमें लोभ, आकांक्षा, इच्छा भी नहीं रहती।

बुद्ध ने दुःख का मूल तृष्णा माना है। महावीर ने दुःख का मूल मोह माना है। बुद्ध कहते हैं—तृष्णा का उच्छेद करो। महावीर कहते

हैं–मोह का नाश करो। मोह का विलय होता है तो तृष्णा भी विलीन हो जाती है और जब तृष्णा का विलय होता है तो मोह का विलय भी हो जाता है। जब आदमी आकांक्षा और तृष्णा से अभिभूत होकर पदार्थों की खोज में चलता है तब वह पदार्थों का उत्पादन करता है, संग्रह करता है और इस प्रयत्न में चोरी, कपट, माया आदि दुर्गुण भी आ जाते हैं। जिस व्यक्ति की तृष्णा अनन्त है, वह कुछ भी अनिष्ट करने में नहीं हिचकेगा। जो तृष्णामुक्त है, वह सभी दुर्गुणों से बच जाता है। न वह अप्रामाणिक बर्ताव करता है, न झूठा तोल–माप करता है और न मिलावट करता है।

महावीर एक महत्वपूर्ण बात कहते हैं–

**पूर्व चिन्ता प्रयोगस्य, समये जायते भयम् ।**
**पश्चात्तापो विपाके च, मायाया अनृतस्य च।। १/२५**

दम्भ, असत्य, हिंसा आदि जितनी असत् प्रवृत्तियां हैं वे सब स्वधर्म नहीं है, अधर्म है। अधर्म का मार्ग सरल नहीं होता। वह वक्र होता है। उसके प्रयोक्ता का मन अनेक दुश्चिन्ताओं से घिरा रहता है। वर्तमान समाज की अशान्ति का मूल कारण है असंयम, अधर्म। वह अपने से दूर है । उसकी आकांक्षा–तृष्णा इतनी बढ़ गई है, आकाश–पाताल, जल–थल उसके लिए छोटा हो गया है। दूसरो को कैसे नष्ट किया जाय ? अधीन कैसे किया जाय ? दूसरों की भूमि पर कैसे क्ब्जा किया जाय ? कुबेरों की प्रथम पंक्ति में कैसे नाम आये ? आदि का सोच तथा उसकी क्रियान्विति की चिन्ता में दम्भ–कपट, असत्य आदि का अवलम्बन अपेक्षित है।

इसके साथ मन में चलने वाली अधर्म की श्रृंखला की परिचर्चा का उल्लेख भ. महावीर कर रहे हैं, योजना के प्रयोग से पूर्व मन चिन्ता क्रान्त रहेगा, करने के बाद भय, असत्य तथा अन्त में ग्लानि–पश्चात्ताप की कडी भी चलेगी। वह शांति के निकट नहीं रहेगा।

यह सारा होता है तृष्णा के साथ जुडे रहने के कारण।

महावीर ने कहा–

**मोहेन प्रावृतो लोको, विकृतात्मा विशिक्षितः ।**

**क्रोधं, मानं तथा मायां, लोभं घृणां मुहुर्व्रजेत् ।। २/३०**

पढ़ा–लिखा पंडित होने पर भी जिसका ज्ञान मोह और तृष्णा से आच्छादित है, जिसकी आत्मा विकृत है, वह बार–बार क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा आदि दुर्गुणों में फंसता रहता है। तब प्रश्न होता है, शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति में अन्तर ही क्या रहता है ? यह मूर्खता या मूढ़ता मोह के कारण आती है। मोह आचरण को दूषित करता है। आदमी कितनी ही ऊंची साधना से जुड़े, जब तक उसकी मूढ़ता समाप्त नहीं होती, तब तक उसकी आत्मा में विकृति बनी रहती है। यद्यपि साधक का ज्ञान मोह से आवृत है तो वह सदा पवित्र नहीं रह सकता। वह बार–बार स्खलित होता रहता है। पवित्र ज्ञान की गंगा के साथ मोह का गंदला पानी मिलता है और उसे भी गंदा बना डालता है। मोह आदमी में आकांक्षाएं बनाए रखता है, उनको वृद्धिंगत करता रहता है। इसीलिए श्रमण महावीर कहते हैं–**कामानुगृद्धिप्रभवं हि दुःखं**– यह सारा दुःख कामना से उत्पन्न होता है। जो आदमी कामनाओं से मुक्त हो जाता है, वह दुःखों से भी मुक्त हो जाता है। **सर्वस्य लोकस्य सदैवतस्य**– यह मोह केवल मनुष्यों को ही पीड़ित नहीं करता, यह देवताओं को भी पीड़ित करता है। पूरे संसार को यह काम–इच्छा पीड़ित कर रही है। कामना रहेगी, दुःख भी रहेगा। कामना नहीं रहेगी तो दुःख भी नहीं रहेगा। कामना से मुक्त होने का उपाय है–संतोष की अनुप्रेक्षा। पातंजलयोग में कहा है–संतोषादनुत्तमः सुखलाभः– संतोष से बढ़कर कोई परम लाभ नहीं है। संतोष का अर्थ है–जो है उसमें राजी रहना, सन्तुष्ट रहना, प्रसन्न रहना। यह सन्तोष ही आदमी को अनुत्तर आनन्द दे सकता है।

अब हमें यह सोचना है कि हम सुख की अनुभूति किस माध्यम से करते हैं। क्या सुख का अनुभव इन्द्रिय और मन के द्वारा ही होता

है या उसके अनुभव का कोई तीसरा विकल्प भी है ? क्या इन्द्रिय विषयों का सुख सबको सभी अवस्थाओं में समान रूप से होता है ? क्या वह सुख स्थायी रहता है या दुःख में भी बदलता है ? सुख की स्थिति में क्या हमारी बुद्धि, विचारधारा आत्मोन्मुखी रहती है या बहिर्मुखी ?

विलासिता आदमी को अध्यात्म की दिशा में उत्प्रेरित नहीं करती ! अध्यात्म या आत्मचिन्तन का बीजारोपण विषय–विमुखता में होता है। विषय–सुख में निमग्न मनुष्य इन्द्रिय–सुख को ही महत्त्व देता है। इन्द्रियों के द्वारा जो सुख पैदा होता है, वह वास्तविक सुख नहीं है। वह सुख का आभासमात्र है और दृष्टिमोह के कारण वह हमें सुख लगता है। इसलिए हमें सबसे पहले दृष्टिमोह को दूर करना चाहिए।

दृष्टिमोह का काम है दृष्टिकोण को विपरीत बना देना और चरित्रमोह का काम है – आचरण को दूषित करना। इन दोनों को दूर करने के लिए राग–द्वेष पर विजय पाना आवश्यक है। राग और द्वेष जन्म–परम्परा के मूल हैं।

## सुख की समीक्षा : २

भगवान् महावीर मेघकुमार को आत्म–प्रकाश की दिशा में ले जा रहे हैं। वह श्रमण बनकर पहले ही दिन अपने पथ से विचलित हो गया। उसके मन में अनेक आशंकाएं खड़ी हो गई। मेघ अपनी आशंकाओं का उत्तर पाने के लिए भगवान् महावीर की सन्निधि में उपस्थित होता है। उसके प्रश्न सुख से संबंधित थे। उसने पूछा –

**धार्मिको धर्ममाचिन्वन्, सुखमाप्नोति सर्वदा ।**
**दुष्कृती दुष्कृतं कुर्वन् दुःखमाप्नोति सर्वदा ।। २/३८**

**न चैष कर्मसिद्धान्तः, लोके संगच्छते क्वचित् ।**
**धार्मिकाः दुःखमापन्नाः, सुखिनो दुष्कृते रताः ।। २/३९**

भगवान् ! धार्मिक व्यक्ति धर्म करता हुआ सदा सुख पाता है और अधार्मिक व्यक्ति अधर्म करता हुआ सदा दुःख पाता है। आप यह बात कहते हैं, पर इस संसार में यह सिद्धान्त सही नहीं है। आज ऐसा देखा जा रहा है कि धार्मिक आदमी दुःखी है और अधार्मिक सुखी है। धार्मिक आदमी कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहा है और अधार्मिक व्यक्ति सुख–सुविधाओं को भोग रहा है। इसलिए मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि धर्म करने वाला दुःख पाता है और पाप करने वाला सुख पाता है।

यह चिन्तन आज का नहीं, हजारों वर्ष पुराना है। हम व्यवहार में भी ऐसा अनुभव करते हैं कि सामायिक, भजन, जाप, पूजा–पाठ

करने वाला अनेक पीड़ाओं को भोगता हुआ बड़ी कठिनाई से जीवन चला पाता है और दूसरा आदमी, जो अप्रामाणिक ढंग से अर्थ का अर्जन करता है, चोरी करता है, ठगाई करता है, वह आरामपूर्वक जीवन बिताता है। यह सनातन चिन्तन है।

महावीर ने कहा—मेघ ! लोगों का यह चिन्तन अनुचित नहीं है। पर जब मैं तुम्हारे मुंह से यह सुनता हूं तब आश्चर्य होता है। तुम इतनी नादानी की बात कैसे करते हो ? मुझे प्रतीत होता है, अभी तक तुम्हें तत्त्व की सम्यक् अवगति नहीं है। यदि तुम सही तत्त्व को समझ जाते तो यह प्रश्न नहीं उभरता। लो, मैं तुम्हारी शकाओं का निराकरण करता हूं, तुम्हें समाहित करता हूं।

दो तत्त्व हैं—धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप। जो इनकी वास्तविकता को नहीं जानता, वह मूढ़ बन जाता है और जो इनके स्वरूप को जान लेता है वह मूढ़ नहीं बनता। हमें धर्म और अधर्म के कार्य को जानना है तथा पुण्य और पाप के कार्य को भी जानना है। जो व्यक्ति इस सत्य से परिचित हो जाता है वह कभी नहीं कह सकता कि धर्म करने वाला दुःखी होता है और अधर्म करने वाला सुखी होता है।

धर्म और अधर्म दोनों के मुंह दो विपरीत दिशाओं की ओर हैं। आज तक दोनों आमने—सामने नहीं आए और न कभी आने वाले हैं। धर्म आएगा तो अधर्म को भागना पड़ेगा और अधर्म आएगा तो धर्म को पलायन करना होगा। प्रकाश और अंधकार साथ नहीं रह सकते।

अंधकार ब्रह्मा के पास पहुंचकर बोला—भगवन् ! आपकी सृष्टि में रहने का अधिकार सबको है। सूर्य मुझे फूटी आंखों से देखना नहीं चाहता। वह मेरे पीछे पड़ा रहता है। मेरा जीवन दूभर हो गया। ब्रह्मा ने सूर्य को बुलाकर पूछा—क्या तुम अंधकार के शत्रु हो ? तुम उसके पीछे क्यों पडे हो? सूर्य बोला – भगवन् ! मैंने आज तक अंधकार को देखा ही नहीं, फिर शत्रुता कैसी ? मैं उसे नहीं पहचानता।

धर्म और अधर्म की दिशाएं भिन्न हैं। एक का मुंह पूर्व में है तो दूसरे का पश्चिम में। धर्म व्यक्ति को भीतर की गहराईयों में ले

जाता है और अधर्म व्यक्ति को बाह्य चकाचौंध में फंसाता है। वास्तव में जब आदमी भीतर होता है तब वह धार्मिक होता है और जब बाहर होता है तब अधार्मिक होता है। धर्म की साधना स्वभाव की साधना है, स्व की उपासना है। अधर्म की साधना विभाव की साधना है, पर की उपासना है। जैसे–जैसे व्यक्ति धर्म का अभ्यास करता चला जाता है, वैसे–वैसे उसके आत्म–प्रदेश आलोकित होते हैं। और तब उस आलोक में वह कहता है– बाहर मत देखो, भीतर देखो। जो कुछ बाहर दिखाई दे रहा है, वह असत्य है। धार्मिक और अधार्मिक को दुनिया अलग–अलग दिखाई देती है। जगत् एक है। किन्तु इसको देखने की दृष्टि में अन्तर आ जाता है। दुर्योधन को लगा कि इस जगत् में अच्छा आदमी है ही नहीं और युधिष्ठिर को लगा कि इस जगत् में बुरा आदमी है ही नहीं। कितना अन्तर है ? यही धर्म और अधर्म का अन्तर है।

आदमी धर्म का अभ्यास किए जा रहा है, पर उससे होने वाली उपलब्धि हो रही है या नहीं, गुण प्रकट हो रहे हैं या नहीं, वह नहीं जानता। धर्म की साधना की पहली उपलब्धि है कि वह बाहर से आने वाले विजातीय तत्त्वों को भीतर नहीं घुसने देता, द्वार पर ही रोक देता है। दूसरी उपलब्धि यह है कि भीतर में जो विजातीय तत्त्व भरे पड़े है, उनको भी वह शनैः–शनैः नष्ट कर देता है। तीसरी उपलब्धि है कि उससे चेतना निर्मल होती जाती है। चेतना पर जो कर्मो के विभिन्न आवरण हैं, उन्हें वह दूर करता है। यदि अध्यात्म की साधना के द्वारा, धर्म के अभ्यास के द्वारा चेतना अनावृत होती है, आवरण दूर होता है तो समझना चाहिए कि जीवन में अध्यात्म घटित हो रहा है, हम अध्यात्म–जगत् में प्रवेश पा रहे हैं, हम सही अर्थ में धार्मिक हैं और हमारा धर्म की उपासना का अभ्यास सही दिशा में हो रहा है।

चेतना को आवृत करने वाले चार तत्त्व हैं–अज्ञान, अदर्शन, अवीर्य और असुख। जैसे ही ये आवरण टूटते हैं, ज्ञान जागृत होता है। यह ज्ञान–वृद्धि अन्य सामान्य ज्ञान से परे की है। इसे हम ज्ञान

कह सकते हैं। यहां प्रज्ञा का जागरण होता है। यही वास्तविक ज्ञान है, सम्यक् ज्ञान है। आवरण हटता है तब दृष्टि–कोण सम्यक् बनता है। आदमी भ्रान्ति में जी रहा है। वह अयथार्थ को यथार्थ और यथार्थ को अयथार्थ मानकर चल रहा है। धर्म की उपासना के द्वारा, सत्य की आराधना के द्वारा इसका निरसन होता है, भ्रान्ति टूटती है।

जब अवीर्य का आवरण हट जाता है तब भीतर में छिपी हुई महाशक्ति का जागरण होता है। धर्म इस जागृति में सहायक बनता है। शरीर में मेरूदंड के नीचे शक्ति का स्रोत है। वहां शक्ति सोई पड़ी है। धर्म की उपासना से वह शक्ति जागती है। मनुष्य में शक्ति वैसे ही सोई पड़ी है जैसे पशुओं की शक्ति सोई पड़ी है। पशु अपनी शक्ति को जगाने में असमर्थ है, पर आदमी अपनी शक्ति को जगा सकता है। उसमें सामर्थ्य है, क्षमता है। यह शक्ति मूलाधार चक्र में निहित है। इसे 'शक्ति–केन्द्र' भी कहते हैं। शक्ति केन्द्र में वह प्राणशक्ति, ऊर्जा, चैतन्य की महाशक्ति है, उसे हम अभिव्यक्ति दें। यह धर्म के द्वारा होता है। ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, तपोयोग–इन सभी के द्वारा शक्ति को जगाया जा सकता है। यदि शक्ति नहीं जागती तो समझना चाहिए कि कहीं त्रुटि है, उपासना में भूल रह रही है। इस महाशक्ति के अनेक नाम हैं। यह कुंडलिनी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

महावीर इसे **महापथ या राजवीथि** कहते हैं। जब विभिन्न प्रयोगों के द्वारा यह शक्ति जागती है और भिन्न–भिन्न चैतन्य–केन्द्रों से गुजरती हुई, मस्तिष्क के मध्य भाग में पहुंचती है तब व्यक्तित्व का रूपान्तरण घटित होता है। एक नये मानव का जन्म होता है, नये जीवन का प्रारम्भ होता है, नया सूर्य उगता है। इस महाशक्ति का जागरण धर्म के अभ्यास की परिणति है। महावीर कहते हैं, यदि इस शक्ति का जागरण हो रहा है तो तुम्हारी यात्रा अध्यात्म की दिशा में है और यदि शक्ति का जागरण नहीं हो रहा है तो मानना चाहिए कि व्यक्ति को अभी मार्ग प्राप्त नहीं हो पाया है।

आदमी सुख के विषय में भी भ्रान्त है। वह असुख को सुख मानकर उसी में उलझा जा रहा है। जब असुख का आवरण हटता है तब उसे यथार्थ सुख के दर्शन होते हैं और उसे भान होता है कि इन्द्रिय–विषयों से प्राप्त होने वाले सुख का अन्त दुःख में होता है, इसीलिए वह वास्तव में सुख नहीं है। वास्तविक सुख को हम आनन्द कहें, तो अच्छा रहेगा।

अधार्मिक का सोचना गलत होता है, उसका आचरण भी विपरीत होता है और वह अनेक आवरणों से आवृत होता जाता है। वह बहुविध अनिष्ट परमाणुओं का संग्रहण करता है। दीखने में ऐसा दिखता है कि अधार्मिक आदमी इतनी बुराइयां करके भी सुखी जीवन जी रहा है और धार्मिक आदमी अच्छाइयां करके भी दुःखी जीवन जी रहा है। पर यह अयथार्थ दर्शन है। दीखना और यथार्थ में होना–इन दोनों में बड़ा अन्तर है। पूणिया एक सामान्य आदमी था। गरीबी का जीवन जी रहा था। सम्राट् श्रेणिक को भी यही दिखाई दे रहा था कि पूणिया गरीब है, दुःखी है। किन्तु महावीर के देखने को कोण भिन्न था। उन्हें दिखाई दे रहा था कि पूणिया जैसा सुखी व्यक्ति दूसरा नहीं है, श्रेणिक भी नहीं है। पूणिया धर्म का जीवन जी रहा था। वह जानता था धर्म की परिणति क्या है ? उसने कभी नहीं माना कि वह दुःखी है, गरीब है। उसकी दृष्टि और आचरण दोनों सम्यक् थे। आचार्य कहते हैं कि एक चांडाल के पास भी यदि सम्यक् दर्शन है तो वह सम्राट् से भी महान् है। एक सम्राट यदि सम्यक् दर्शनयुक्त नहीं है तो वह चांडाल से भी नीचा है। इसीलिए व्यवहार में भी कहा जाता है कि जिसके पास राम–नाम का धन है, वह सम्पत्तिशाली है, धनवान् है, सम्पन्न है और वास्तव में वही सुखी है। सुखी या दुःखी दिखाई देना एक बात है और सुखी या दुःखी होना अलग बात है। दिखाई देना दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। लोगों को जो सुखी दिखाई देता है, महावीर की दृष्टि में वह अत्यन्त दुःखी है, और लोगों को जो दुःखी दिखाई देता है,

महावीर की दृष्टि में वह अत्यन्त सुखी है। यह देखने का अन्तर है। महावीर यथार्थद्रष्टा हैं।

वास्तव में सुख है चेतना की अनावृत दशा और दुःख है चेतना की आवृत दशा। संत दादू कहते हैं–दुनिया में कहीं कोई सुख नहीं है। सुख–है अपने पास में होना। जो आदमी अपने निकट बैठता है, वह परमात्मा के निकट बैठता है, अपनी चेतना के निकट बैठता है। उस–जैसा सुखी आदमी दुनिया में दूसरा नहीं होता। पर दुनिया में सब कुछ उलटा दिखाई देता है। कबीर और महावीर का जीवन पढ़ें। इनके जीवन में भी रोग आए थे, भयंकर बीमारी से गुजरे थे महावीर ! छह महीनों तक वे उसे भुगतते रहे। शरीर है तो रोग आ सकता है, फिर शरीरधारी चाहे महावीर हों या बुद्ध हों। एक बार बुद्ध को किसी ने विष मिश्रित भोजन दे डाला। बुद्ध ने भोजन कर लिया। भोजन ने अपना प्रभाव दिखाया। बुद्ध को बैचेनी हुई। उन्हें पता चल गया। पर उनका चिन्तन महान् था। वे बोले–जिसने आज मुझे आहार–दान दिया है, उस–जैसा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं है। मैं उसका आभार मानता हूं कि उसके निमित्त से मैं इस शरीर को छोड़कर जा रहा हूं। ऐसा चिन्तन एक धार्मिक व्यक्ति ही कर सकता है, एक अध्यात्म की दिशा में प्रस्थित व्यक्ति ही कर सकता है। अधार्मिक आदमी का जीवन–सूत्र होता है–**शठे शाठ्यं समाचरेत्**, जैसे के साथ तैसा। धार्मिक व्यक्ति का जीवन–सूत्र होता है–**शठे सौजन्यं समाचरेत्**। शठ व्यक्ति के साथ भी सुजनता बरती जाए।

रामकृष्ण परमहंस महान् साधक थे अन्तिम समय में वे भयंकर व्याधि से ग्रस्त हो गए। ऐसी व्याधि जिसकी चिकित्सा नहीं हो सकती थी। उस व्याधि से वे पीड़ित थे। उस समय उनके प्रिय शिष्य विवेकानन्द के मन में एक संदेह खड़ा हो गया। उन्होंने सोचा–मेरे परम गुरू रामकृष्ण सदा एक बात कहते थे कि राम भी हुए हैं और कृष्ण भी हुए हैं। ये दोनों महापुरूष दो अलग–अलग समय में हुए हैं। अब मैं दोनों का समवाय रामकृष्ण हूं। वे दो थे, मैं

एक हूं। यदि इस भयंकर व्याधि की स्थिति में मेरे गुरू उसी बात को दोहरा दें तो मैं समझूंगा कि उनका कथन यथार्थ था, अन्यथा. ...। रामकृष्ण पहुंचे हुए योगी थे। उनको अपने प्रिय शिष्य के मन की बात ज्ञात हो गई। वे बोले–विवेकानन्द ! तुम्हारे मन में एक सन्देह उभरा है कि राम और कृष्ण का समवाय ही 'रामकृष्ण' है, सच है या नहीं! वत्स ! सन्देह मत रख। मैं वही हूं। यह सुनते ही विवेकानन्द का संदेह दूर हो गया और वे गुरू चरणों में गिर पड़े। भयंकर व्याधि की स्थिति में भी रामकृष्ण अपने से दूर नहीं गए।

इन सारी घटनाओं के सन्दर्भ में जब हम सोचते हैं तो प्रथम दर्शन में ऐसा प्रतीत होता है कि ये महापुरूष कितने–कितने कष्टों से गुजरे हैं ? तो क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि धर्म करने वाला दुःखी होता है और अधर्म करने वाला सुखी ?

यह देखने–सोचने के अन्तर से होने वाली अभिव्यक्ति है। ज्ञानी भी देखता है और अज्ञानी भी देखता है। दोनों की आंखें भिन्न–भिन्न होंगी, दोनों में अन्तर होगा। कहा भी है–

**सुख दुःख तो संसार में, सब काहू को होय।**
**ज्ञानी भुगते ज्ञान सूं, मूरख भुगते रोय।।**

कष्ट ज्ञानी में भी आता है और अज्ञानी में भी आता है। पर दोनों के चिन्तन में जमीन–आसमान का अन्तर होता है। ज्ञानी ज्ञान के कारण हंसता हुआ दुःख भोगता है और मूरख रोता हुआ भोगता है। यही अन्तर धर्म और अधर्म की विभाजन–रेखा है। इसी विभक्ति से जाना जा सकता है कि कौन धार्मिक है और कौन अधार्मिक ? ज्ञानी कष्टों को समभावपूर्वक सहन करेगा, संतुलन बनाए रखेगा। अज्ञानी हाय–हाय करता हुआ कष्टों को सहेगा। संतुलन खो देगा और पहले से अधिक दुःखी हो जाएगा।

जिस व्यक्ति के जीवन में राग–द्वेष की मात्रा कम होती जाती है, वह धर्म के अभ्यास में आगे बढ़ता जाता है। जीवन में धर्म के अवतरण की यह कसौटी है। आदमी तपस्या करता है, अनेक दिनों

तक भूखा–प्यास रहता है, एकान्तर तप, मासक्षपण, षण्मासी तप आदि–आदि करता है, पर जब तक उसमें कषायों की मंदता नहीं होती, राग–द्वेष की कमी नहीं होती, प्रियता और अप्रियता के भाव में अन्तर नहीं आता, तब तक ऊर्जा का जागरण नहीं होता। तपस्या से ऊर्जा का जागरण होना चाहिए। पर वह घटित होता है कषायों की क्षीणता के आधार पर। जैसे–जैसे कषाय मंद होंगे, शक्ति का जागरण होगा। ऐसा हो नहीं सकता कि ऊर्जा जागी हो और कषायों की मात्रा कम न हुई हो अथवा कषाय कम हुए हों और ऊर्जा का जागरण न हुआ हो।

जो व्यक्ति धर्म या अध्यात्म के द्वारा ऐहिक उपलब्धि चाहता है, उसके लिए धर्म दुःख का कारण बन जाता है। वैसा व्यक्ति साधना करता है यश और कीर्ति प्राप्त करने के लिए, बड़प्पन को दिखाने के लिए, स्टेज पर आने के लिए। वह व्यक्ति कभी सुख नहीं पा सकता। पग–पग पर उसे कष्ट उठाना पड़ता है। जिस व्यक्ति ने धर्म की यथार्थ आराधना की है, जो करता है, वह कभी दुःख से घबराता नहीं, कभी उसे दुःख होता नहीं अथवा कष्ट उसे पीड़ा नहीं दे सकता।

मेघकुमार ने भगवान् महावीर से दूसरा प्रश्न पूछा–

**कथं त्वयाहमिन्द्राणां, सिद्धान्तः प्रतिपादितः ।**
**यद्येष घटते तर्हि, कर्मवादो विलीयते ।। २/५४**

भगवन् ! आपने 'अहमिन्द्र' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कैसे किया ? यदि कहीं ऐसी व्यवस्था हो कि वहां रहने वाले सब 'अहमिन्द्र'– मैं इन्द्र हूं, मैं इन्द्र हूं, समान हों, कोई छोटा–बडा न हो, सब एक–दूसरे को समान समझते हों, तो क्या वहां कर्मवाद विघटित नहीं हो जाता है ?

जैन सिद्धान्त की दृष्टि से देवों के चार प्रकार हैं। उनमें एक है

वैमानिक देव। वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं–कल्पोपन्न और कल्पातीत। कल्प का अर्थ है–मर्यादा/व्यवस्था । कल्पोपन्न देवों में स्वामी–सेवक, छोटे–बड़े आदमी की मर्यादा होती है। कल्पनातीत में ऐसा कुछ नहीं है। नवग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत होते हैं। वहां न कोई स्वामी होता और न कोई सेवक, न कोई छोटा होता है और न कोई बड़ा। सब अहमिन्द्र होते हैं। सब अपने आपको अहमिन्द्र कहते हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार सबसे ऊंचे देवलोक का नाम है–'सर्वार्थसिद्ध' । वहां के सभी देव 'अहमिन्द्र' होते हैं। उनमें स्वामी–सेवक की व्यवस्था नहीं होती।

मेघ का प्रश्न है कि ऐसी व्यवस्था में कर्मवाद कैसे घटित हो सकता है ? भगवन् ने कहा–मेघ ! स्वामी–सेवक का सिद्धान्त व्यवस्था पर आधाारित है। राजतन्त्र में राजा होता है, गणतन्त्र में गणनायक। यह सारी विधि कर्म के अनुसार नहीं चलती, व्यवस्था के अनुसार चलती है। सामाजिक और राज्यतन्त्र की व्यवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। ये परिवर्तन कर्मकृत नहीं होते। चीन, रूस, भारत, अमेरिका की राज्य प्रणालियां भिन्न–भिन्न है। उनकी व्यवस्थाएं पृथक–पृथक हैं। उन्हें कर्मकृत नहीं मानना चाहिए। कर्मवाद सब कुछ नहीं है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जुड़ा हुआ है। कुछेक रोग क्षेत्रज होते हैं, अमुक क्षेत्र में ही होते हैं। कुछेक रोग कालज होते हैं, अमुक–अमुक काल में ही होते हैं। इन्हें हम केवल कर्मकृत कैसे मान लें ? भिन्न–भिन्न प्रकार की व्याधियां होती हैं। ये कर्मवाद से फलित नहीं मानी जा सकती।

आदमी के पास धन होना या न होना, केवल कर्मवाद से नहीं होता। धनार्जन द्रव्य, क्षेत्र और व्यवसाय–सापेक्ष होता है। किसी क्षेत्र में कोई व्यवसाय अच्छा चलता है और व्यक्ति उससे लाभ उठा लेता है।

सुख या दुःख व्यवस्थाओं के आधार पर भी होता है। जिस देश या समाज में व्यवस्थाएं अच्छी होती है तो वहां का आदमी या

सदस्य सुख का अनुभव करता है और जहां व्यवस्थाएं अच्छी नहीं होतीं, वहां कष्टों के अंबार लग जाते हैं। आदमी दुःखी बन जाता है। आदमी समस्याएं पैदा करता है और आदमी ही उनका समाधान करता है। समस्याएं होती हैं तब आदमी दुःख और पीड़ा का अनुभव करता है और समाधान होता है तब आदमी सुख का अनुभव करता है। समस्या पैदा करने वाला भी आदमी है और समाधान करने वाला भी आदमी ही है। पंजाब की समस्या हुई और वहां के लोग दुःखी हो गये। समाधान मिला और वे सुख की सांस लेने लगे। ये सब कर्मजनित नहीं है। कभी-कभी कर्म का विपाक भी समस्याओं के उभार या समाधान में निमित्त बनता है। पर सारी समस्याएं या सारे समाधान कर्म से ही हों, ऐसी बात नहीं है।

समस्या होगी तो दुःख भी होगा। वे ही आदमी समस्या पैदा करते हैं जिनमें क्रोध, अहंकार और स्वार्थ-भावना प्रबल होती है। समस्या चाहे सामाजिक हो, राष्ट्रीय हो, अन्तर्राष्ट्रीय हो-इन सबके पीछे अहंकार, लोभ, स्वार्थ या क्रोध का कारण रहता है। वही समाज अच्छा होगा जिसमें व्यक्ति क्रोध, अहं और स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ है। जहां इनकी उग्रता होगी, वहां समस्याएं उभरेंगी।

पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी ने समाधि पर लिखवाया-सुख से सोओ। तीन दिन के बाद वसीयत को पढ़ा। वसीयत में संपत्ति का हक किसी दूसरे को दे दिया गया था। पत्नी को बहुत बुरा लगा। उसने समाधि पर लिखे वाक्य में यह जोड़ दिया- सुख से सोओ, जब तक मैं नहीं आऊं। इस वाक्यांश में स्वार्थ बोल रहा है। पत्नी कहती है-मैं न आऊं तब तक ही तुम सुखपूर्वक सो सकोगे। मेरे आते ही सुख हराम हो जायेगा। स्वार्थ में क्या-क्या नहीं होता?

कषाय जितना प्रबल होगा, आदमी उतना ही अधिक दुःखी होगा। कषायी व्यक्ति द्वारा की गई व्यवस्थाएं भी उतनी ही जटिल और दुःखदायी होंगी। उन व्यवस्थाओं के कारण आदमी को दुःख भोगना पड़ेगा।

भगवान् कहते हैं–मेघ ! मैंने जिस स्वर्ग के निवासियों की बात कही है, वहां की व्यवस्थाएं समीचीन हैं। उन देवों में राग–द्वेष की अत्यन्त मंदता है। इसलिए वहां सब के सब 'इन्द्र' हैं। सभी कहते हैं, मैं इन्द्र हूं, वह इन्द्र है, यह इन्द्र है। किसी को बुरा नहीं लगता क्योंकि वहां की व्यवस्था ही ऐसी है।

**कथमात्मतुलावादः, भगवंस्तव सम्मतः ।**
**भिन्नानि सन्ति कर्माणि, कृतानि प्राणिनामिह ।। २/४६**

भंते ! मेरे मन में एक और जिज्ञासा उभर रही है। आप कहते हैं–सभी आत्माएं समान हैं। लेकिन मैं देख रहा हूं कि सबके अलग–अलग कर्म हैं, भिन्न–भिन्न वृत्तियां हैं। कोई किसी वृत्ति में जी रहा है, कोई पाशविक वृत्ति में जी रहा है तो कोई वीरवृत्ति में जी रहा है, कोई हीनवृत्ति में जी रहा है तो कोई अहंवृत्ति में जी रहा है। यह अन्तर क्यों ?

भगवान् ने कहा–वत्स ! मैंने जो आत्म–तुलावाद का प्रतिपादन किया है, वह इस आधार पर किया है कि प्रत्येक आत्मा स्वरूप की दृष्टि से समान है। मेरी आत्मा में और एक चींटी की आत्मा में स्वरूप–भेद नहीं है। मेरी आत्मा में अनन्त चैतन्य, अनाबाध आनन्द और अप्रतिहत शक्ति है जो चींटी की आत्मा में भी ये सब हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि कर्म के आधार पर एक आवृत है और एक अनावृत है। एक ढ़का हुआ है और एक खुला हुआ है। स्वरूप की दृष्टि से कोई भेद नहीं है।

आत्म–तुलावाद में सभी आत्माएं समान हैं और हमें सभी आत्माओं को पूर्णता के आधार पर, समानता के आधार पर ही देखना चाहिए। बुद्ध जब बालक ही थे तब एक संन्यासी हिमालय से आया और बुद्ध के चरणों में प्रणाम किया। बुद्ध ने कहा–यह क्या कर रहे हैं ? आप बड़े महात्मा हैं, त्यागी पुरूष हैं, मैं तो छोटा–सा बालक

हूं। आप मुझे प्रणाम करें, यह उचित नहीं है। उस हिमालयवासी साधक ने कहा–तुम्हारे में और मेरे में अन्तर ही क्या है ? मुझे कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। अन्तर है तो केवल इतना–सा कि मैं लक्ष्य तक पहुंच रहा हूं और तुम पहुंचोगे। मैं तुम्हारे नश्वर शरीर को प्रणाम नहीं कर रहा हूं। मैं तो उस चेतना को नमस्कार कर रहा हूं जो भीतर बिराजमान है और जो मेरे ही रूप में प्रकट होने वाली है।

महावीर का समाधान सुनकर मेघ की जिज्ञासा शांत हुई। उसने कहा–भगवन् ! आपने जो कहा यह यथार्थ है। अब आप कृपा कर मुझे यह बताएं किन–किन उपायों के द्वारा चेतना का जागरण होता है, ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण होता है और जिस स्थिति में आप हैं क्या उसी स्थिति में मैं आ सकता हूं ?

महावीर बोले–मेघ ! तुम्हारे प्रश्न यथार्थ हैं। साधना के अनेक उपाय हैं इनमें पहला है–विविक्त शय्यासन। इसका अर्थ है–साधक का सोना/बैठना एकान्त स्थान में हो। विविक्त शब्द का अर्थ है–जो स्थान स्त्री–पुरूष, पशु आदि से रहित हो। यह विवेक अशुद्ध निमित्तों से बचने के लिए दिया गया है। प्रथम दृष्टि में अत्यन्त अपेक्षित है। इसके तीन लाभ होते हैं–पहला यह कि मन और इन्द्रियों को चंचलता के हेतु उपलब्ध नहीं होते। दूसरा लाभ यह होता है कि साधक शनैः–शनैः अपने अन्दर की वृत्तियों को द्रष्टा बनकर समस्त लाभ का निष्कासन कर भीतर के एकान्त के साथ एक हो सकता है और तीसरा लाभ यह है कि चित्त के स्थिरीकरण का अभ्यास शीघ्र फलित होने लगता है।

सभी प्रकार के बाह्य वातावरण में रहकर स्वयं के एकान्त में रहना सहज लभ्य नहीं होता। इसलिए सभी महापुरूषों ने एकान्त–सेवन का विधान किया है। कहा भी है–**आहार-निहार-विहार-योगाः, सदैव सद्भिर्विजने विधेयाः ।**

दूसरा साधन है – आहार का नियन्त्रण। आहार का असंयम और साधना का आनन्द। ये दोनों संभव नहीं है। या तो आदमी

भोजनभट्ट होगा, भोजन का आनन्द लेगा या फिर साधना का आनन्द लेगा। दोनों आनन्द साथ–साथ नहीं ले सकता। साधना का आनन्द तब आता है जब भोजन पर नियन्त्रण होता है।

भगवान् ने आगे कहा–**रसा पगामं न निसेवियव्वा**–साधक को रसों (दूध, दही, घी, मक्खन आदि) का प्रचुर मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। मात्रा से अधिक सेवित रस विकार–वासना को उत्तेजित करते हैं। भावना–तन्त्र फिर ग्रन्थि–तंत्र को प्रभावित करता है। ग्रन्थियों के अतिरिक्त स्राव से शारीरिक और मानसिक ढ़ांचा अस्त–व्यस्त होता है। लेकिन फिर भी आदमी अपने भोजन पर ध्यान नहीं देता। कितना खाना ? क्या खाना ? कैसे खाना आदि तथ्यों को वह गौण कर देता है ? साधना की दृष्टि से भोजन का विवेक अत्यन्त मूल्यवान है।

महावीर एक बात और कहते हैं कि यदि तुम भीतर प्रवेश करना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियों को बाहर से हटाकर भीतर ले जाओ। उनको भीतर में संवृत करो, प्रत्याहार की साधना करो। प्रत्याहार का अर्थ है–इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना, बाहर से हटाकर भीतर चेतना के साथ संयुक्त करना।

राबिया सूफी सन्त थी। एक साधक ने राबिया से कहा–बाहर आओ और प्रकृति का सौन्दर्य देखो। राबिया बोली–तुम भीतर आओ और उस बनाने वाले को देखो। वह कितना सुन्दर है। उस साधक की इन्द्रियां बाहर काम कर रही थीं और राबिया की इन्द्रियां भीतर काम कर रही थीं। राबिया को जो दिखाई दे रहा था, वह साधक को दिखाई नहीं पड़ रहा था। राबिया भीतर की प्रकृति से तादाम्य हो रही थी। यही वह साधना है जिससे साधक लक्ष्य तक पहुंच जाता है। जब इन्द्रियां भीतर से जुड़ती हैं तब चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता है। जब तक इन्द्रियां बाहर में रस लेती हैं, तब तक मंजिल प्राप्त नहीं हो सकती, उसकी दूरी बनी रहती है या वह अधिक दूर होती जाती है।

महावीर यही कहते हैं कि इन्द्रियों को बहिर्मुखता से हटाकर

अन्तर्मुखी बनाओ और ऊर्ध्वारोहण करो। इसके तीन उपाय हैं–

१. एकान्त का सेवन,

२. भोजन का विवेक,

३. अन्तर्मुखता का प्रयत्न ।

संबोधि के दूसरे अध्याय की यह संक्षिप्त चर्चा है।

●

# सुख-दुःख का कर्त्ता कौन ?

मेघ ने पूछा–भंते !

**कः कर्त्ता सुखदुःखानां, को भोक्ता कश्च घातकः ।**
**सुखदो दुःखदः कोस्ति, स्याद्वादीश ! प्रशाधि माम् ।। ३/१२**

१. सुख–दुःख का कर्त्ता कौन है ?
२. सुख–दुःख का भोक्ता कौन है ?
३. सुख–दुःख का नाश करने वाला कौन है ?
४. सुख–दुःख देने वाला कौन है ?

ये चार प्रश्न प्रायः सभी दार्शनिकों के सामने आते रहे हैं और सभी ने अपनी–अपनी परंपरा के अनुसार इसका उत्तर दिया है।

भारतीय दार्शनिक परंपरा में मूलतः दो मुख्य धाराएं रही हैं–ईश्वरवादी परंपरा और आत्मवादी या कर्मवादी परम्परा। ईश्वरवादी परम्परा में ईश्वर को सुख–दुःख का कर्त्ता माना जाता है। ईश्वर ही सुख देता है और ईश्वर ही दुःख देता है। आत्मवादी में इन चार प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया गया है –

१. सुख–दुःख की कर्त्ता आत्मा है ।
२. सुख–दुःख की भोक्ता आत्मा है।
३. सुख–दुःख का नाश करने वाली आत्मा है।
४. सुख–दुःख की दाता आत्मा है।

जैन दर्शन आत्मकर्तृत्ववादी दर्शन है। आत्मा निरन्तर सद्–असद् प्रवृत्ति करती रहती है। उसके द्वारा पुद्‌गलों का आकर्षण होता है,

और वे कर्म कहलाते हैं। इन कर्मो के उदय से आत्मा वैभाविक प्रवृत्ति में प्रवृत्त होती है और इनके क्षय से आत्मा स्वभाव की ओर अग्रसर होती है। आत्मा कर्त्ता सकर्मा है इसलिए वह कर्म से आबद्ध होती है। कर्म के तीन प्रकार हैं—संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म। जैन परम्परा कर्मवादी परम्परा है। इसमें कर्म का सूक्ष्मतम विवेचन प्राप्त है। अन्य किसी भी दर्शन में इतना वैज्ञानिक और सूक्ष्म विवेचन प्राप्त नहीं होता। हमें समझना चाहिए कि सुख और दुःख क्यों और कैसे होते हैं !

भगवान् बोले –

**शरीरप्रतिबद्धोऽसावात्मा चरति संततम् ।**
**सकर्मा क्वापि सत्कर्मा निष्कर्मा क्वापि संवृतः ।। ३/१३**

मेघ ! आत्मा की तीन अवस्थाएं हैं—सकर्मा, सत्कर्मा और निष्कर्मा। आत्मा शरीर में आबद्ध है। कर्म—शरीर के द्वारा नियंत्रित है। कर्मो के द्वारा ही आत्मा सतत भवभ्रमण करती है। जहां मोह कर्म का उदय होता है वहां आत्मा की असद् प्रवृत्ति होती है। उसमें पाप कर्म का आकर्षण होता है। उसे 'सकर्मा' कहा जाता है। जहां मोह कर्म अंशतः क्षीण होता है वहां आत्मा की सद् प्रवृत्ति होती है। उससे पुण्य कर्म का आकर्षण होता है। उसे 'सत्कर्मा' कहा जाता है। जहां मोह कर्म अधिक मात्रा में क्षीण होता है, वहां प्रवृत्ति का निरोध होता है। उससे कर्म का ग्रहण नहीं होता। उसे निष्कर्मा कहा जाता है।

कर्म का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप एक नहीं है। दोनों भिन्न है। कर्म जड है, अचेतन है : आत्मा सचेतन है। सचेतन होती हुई भी आत्मा अनादिकाल से शरीर से आबद्ध है। शरीर के साथ जुडी हुई है। आत्मा का आविर्भाव कब हुआ, कोई नहीं जानता। वह अनादि है। उसका आदिबिन्दु नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने मन की तीन अवस्थाएं स्वीकार की हैं—चेतन मन, अचेतन मन और अवचेतन मन। अवचेतन

मन में जो संस्कार हैं, वे वर्तमान जीवन के ही नहीं हैं, अतीत के अनंत जन्मों के होते हैं। उनकी आदि ज्ञात नहीं की जा सकती। जब साधक ध्यान की गहराइयों में उतरता है तब उन संस्कारों की एक–एक परत उघड़ती है और न जाने कितने विचित्र प्रकार के विचार उद्भूत होते हैं। ये संस्कार कब बने। मनस्वियों को इसलिए अवचेतन मन की अवस्थिति माननी पड़ी। ऋषि–मुनियों को संचित कर्म को स्वीकार करना पड़ा। कर्म अनन्तकाल से संचित है। उनका संचय आगे से आगे चलता रहता है। जब वे कर्म प्रारब्ध –वर्तमान में आते हैं तब व्यक्ति उनके अनुसार प्रवृत्ति करने लग जाता है।

वह क्रियमाण कर्म की अवस्था बन जाती है। उससे नये कर्मो का संग्रहण भी होता है। यह एक चक्रव्यूह है। संचित कर्म जब वर्तमान में आते हैं तब उनके अनुरूप प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति के अनुसार कर्म का संग्रहण होता है। यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक आत्मा पूर्णरूपेण निष्कर्मा नहीं बन जाती है। जब आत्मा पूर्णरूपेण कर्म से विलग हो जाती है तब वह अपने मूल रूप में प्रकाशित होती है।

जब तक संस्कार है, कर्म शरीर साथ में है, तब तक चेतना शुद्ध नहीं है। अवचेतन मन अनेक जन्मों के संस्कारों का समूह है। कर्म–शरीर सूक्ष्म शरीर है। वह स्थूल शरीर का उपादान है। स्थूल शरीर की निर्माणकर्त्री कोशिका है। यह सबसे छोटी इकाई है। यह भी संस्कारों से मुक्त नहीं है। इसमें भी आनुवंशिक गुण–धर्म मिलते हैं। अभी–अभी वैज्ञानिकों ने एक सेल को निकालकर उसे विशिष्ट स्थिति में रखा। उस एक कोशिका ने धीरे – धीरे अपनी सत्तर पीढ़ियों का निर्माण कर दिया। वैज्ञानिकों ने देखा वे धीरे–धीरे निर्मित कोशिकाएं भी अपने–अपने गुणधर्म को छोड़ देती हैं। वैज्ञानिक कहते हैं–एक कोशिका इससे अधिक पीढ़ियों का निर्माण भी कर सकती है।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चेतना के साथ कर्मो का संग्रह जुड़ा हुआ है। जब तक ये कर्म दूर नहीं होते तब तक आत्मा

स्वतन्त्र नहीं हो सकती, पूर्ण निष्कर्म नहीं हो सकती। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति में कर्म का निमित्त रहता है। यह कौन जानता था कि राम के राज्याभिषेक की तैयारी के साथ ही उनके वनवास की बात भी जुड़ी हुई है। विश्वामित्र जैसे महान् ऋषि ने राज्याभिषेक का मुहूर्त्त निकाला, पर क्षण में ही सारा पासा पलट गया। भरत ने विश्वामित्र से पूछा–ऋषे ! यह कैसे घटित हो गया ? आपने मुहूर्त्त निकाला था तो यह अनहोनी कैसे घटित हो रही है !

विश्वामित्र बोले–

**सुनो भरत ! भावी प्रबल, विलखि कहे मुनिनाथ !**
**हानि लाभ जीवन मरण, जस अपजस विधि हाथ ।।**

भरत ! यह मेरे हाथ की बात नहीं है। मैंने अच्छे से अच्छा मुहूर्त्त निकाला, पर विधि के आगे, कर्म के आगे मैं हार गया। इस होनहार के आगे मैं नतमस्तक हूं।

लोग मानते हैं–इसने मुझे सुख दिया, इसने मुझे दुःख दिया। यह भ्रान्त मान्यता है। कहा है–"सुखस्य दुःखस्य न कोपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा"। सुख–दुःख देने वाला कोई नहीं है। दूसरा सुख–दुःख देता है, यह मानना कुबुद्धि है। स्वयं व्यक्ति ही सुख पैदा करता है और स्वयं व्यक्ति ही दुःख पैदा करता है। दूसरे सिर्फ निमित्त मात्र बनते हैं।

भारतीय परंपरा में सुख को और दुःख को आमंत्रित किया जाता है। सुख आएगा तो उसका भी स्वागत है और दुःख आएगा तो उसका भी स्वागत है। सुख में प्रसन्न और दुःख में विषण्ण होने की बात वहां प्राप्त नहीं है। सुख में प्रसाद और दुःख में विषाद क्यों अनुभव किया जाए ! क्योंकि यहां की मान्यता है कि जो कर्म किया है उनके लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेवार है। किए हुए कर्म को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। कर्म विलय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्मो

को भोगने पर ही कर्म–विलय घटित होता है।

गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं–पार्थ ! तुम तीनों गुणों से मुक्त बनो। जब तक ये उपस्थित रहेंगे तब तक संसार में जन्म–मरण करना पड़ेगा। तमोगुण रहेगा तब भी संसार में आना पड़ेगा और रजोगुण तथा सतोगुण रहेंगे तब भी संसार में आना पड़ेगा। जब तीनों गुणों से मुक्त हो जाओगे तब यह आवागमन मिट जाएगा। इसलिए –**गुणातीतो भवार्जुन** ! अभी तुम गुणों में वर्तमान हो, इसलिए मोह पैदा हो रहा है, विकार पैदा हो रहा है।

भगवान् महावीर कहते हैं–कर्म है इसलिए संसार में आना–जाना पड़ रहा है। कर्म से अतीत हो जाओ, फिर न जन्म है और न मृत्यु है। सुख– दुःख के बीच में किसी 'पर' को लाने की आवश्यकता नहीं है। हम स्वयं ही कर्म करते हैं और उनका फल भोगते हैं।

ईश्वरवादी परम्परा में एक तीसरी सर्वशक्तिसंपन्न सत्ता को ईश्वर माना गया है और उसे ही सृष्टि का कर्त्ता, संचालक माना गया है। जैन दर्शन में आत्मा ही ईश्वर है और वह सर्वशक्तिसंपन्न है। ईश्वर की स्वरूपगत व्याख्या में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। मतभेद है केवल सृष्टि के कर्तृत्व या अकर्तृत्व के विषय में।

ईश्वर का अर्थ है–ऐश्वर्यसंपन्न। ऐश्वर्य आन्तरिक भी होता है और बाह्य भी होता है। बाह्य ऐश्वर्य से संपन्न व्यक्ति को भी हम ईश्वर, भगवान कह देते हैं। राजा–महाराजा, साधु–संत, महान् वैभवशाली व्यक्ति ईश्वर कहलाते हैं। इस ईश्वरत्व में उनका बाह्य ऐश्वर्य परिलक्षित होता है। आत्मा ईश्वर है, क्योंकि वह आन्तरिक एश्वर्य से युक्त है। आन्तरिक ऐश्वर्य के चार घटक हैं–अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द। इस प्रकार बाह्य ऐश्वर्य–संपन्न और आन्तरिक ऐश्वर्य–सम्पन्न ये दोनों प्रकार के व्यक्ति ईश्वर कहलाते हैं, पर दोनों में अन्तर है। दोनों को एक मान बैठना गलत हो जाता है।

जो आन्तरिक ऐश्वर्य से संपन्न होता है वह मानता है कि कर्म

मैंने किया है, मुझे ही भोगना है, मुझे ही नष्ट करना हैं । तीसरे व्यक्ति को बीच में लाने की आवश्यकता नहीं है। इस चिन्तन के आधार पर वह बड़े से बडा कष्ट हंसकर सहन कर लेता है। संतुलन नहीं खोता। बाह्य ऐश्वर्य से संपन्न व्यक्ति कष्टों से घबरा जाता है। दुःखों को आते देख अपना संतुलन खो देता है, विषाद से भर जाता है, मार्गच्युत हो जाता है। वह व्यक्ति बहिर्मुखी होता है। बड़े–बड़े वैज्ञानिक, विद्वान् और पंडित व्यक्ति भी छोटी–बड़ी परेशानियों से घबराकर आत्महत्या कर लेते हैं। यह उनकी बहिर्मुखता का ही परिणाम है।

कर्मवाद में 'उदीरणा' की बात कही गई है। उसमें साधक कर्मो को फल विपाक देने के लिए आमन्त्रित करता है। जो कर्म वर्षो पश्चात् उदय में आकर फल देने वाले हैं उन्हें वर्तमान में लाकर आमन्त्रित कर वह उनका फल भोगने के लिए प्रस्तुत होता हैं वह सोचता है, कर्म मैंने किए हैं। उनको आज या कल भोगना ही पड़ेगा। उनको भोगे बिना छुटकारा नहीं है तो आज का यह शुभ अवसर, मनुष्य जन्म क्यों व्यर्थ गंवाऊं ? उन्हें आमन्त्रित कर यहीं भोग लूं।

मुनि गजसुकुमाल बाल्य अवस्था में दीक्षित हुए। उसी दिन अपने आराध्य के समक्ष जाकर बोले–प्रभो ! मुझे ऐसा मार्ग बताएं, जिससे मेरा कल्याण शीघ्र घटित हो जाए। भगवान् बोले–वत्स ! तुम जाओ और एक रात्रि की श्मशान प्रतिमा धारण करो। आज ही श्मशान में जाकर रातभर ध्यान में आरूढ़ हो जाओ। वे दीक्षा की प्रथम रात्रि में ही श्मशान में चले गए और चारों ओर जलती चिताओं के बीच खड़े होकर ध्यानस्थ हो गए। एक व्यक्ति उस समय वहां आया। मुनि को देखते ही उसका मन प्रतिशोध की आग से जल उठा। मन–ही–मन उसने सोचा–अरे ! यह वही तो है जो मेरा दामाद होने वाला था ! इसने मुझे धोखा दिया है । इसको मजा चखाऊं। उसने उस बाल मुनि के सिर पर गीली मिट्‌टी से पाल बांधी और चिताओं में से धधकते अंगारे निकालकर उसके कोमल मस्तक पर रख दिए। सिर खिचडी की भांति 'खद्‌बद्–खद्‌बद्' करने लगा। मुनि ध्यानस्थ थे।

उनकी समता तीव्रतर होती गई। चिन्तन हुआ– कैसा सुअवसर आया है कर्मो को क्षीण करने का ! जिसने अंगारे रखे हैं वह तो मेरा परम मित्र है। मित्र के सिवाय कौन ऐसा सहयोग कर सकता है। वे अडोल खड़े रहे। चिन्तन विशद, विशदतर होता गया। खोपड़ी पक रही थी। मन में किंचित् मात्र भी विचलन पैदा नहीं हुआ। कुछ ही समय पश्चात् वे इस नश्वर शरीर से मुक्त हो गये और आत्मैश्वर्य को प्राप्त हो गए। वे निर्वाण को प्राप्त हो गए। एक ही रात में उन्हें साध्य मिल गया।

यदि हम यह बात हृदयंगम कर लें कि सुख–दुःख का दाता कोई दूसरा नहीं है, स्वयं व्यक्ति ही है तो दुःख हमें कष्ट नहीं दे पाएगा। हमारे धर्म की सारी प्रक्रियाएं संचित कर्मो को क्षीण करने की प्रक्रियाएं हैं। उन्हें आमन्त्रित करने की प्रक्रियाएं हैं। आदमी तप करता हैं। तपस्या के द्वारा कर्मो को आमन्त्रित कर खपाया जाता है।

तपस्या कर्मो को क्षीण करने का महान् उपाय है। भगवान् महावीर कहते हैं–**तपस्तथा विधातव्यं, चित्तं नार्त्तं भजेद् यथा**–तप वैसा करना चाहिए जिससे मन क्लान्त न हो। चेतना क्लान्त न हो। यदि तपस्या से मन क्लान्त होता है तो वह बंधन पैदा करता है। हम तप करते हैं कर्मो को खपाने के लिए और यदि तप से कर्म–बन्धन होता है तो वह तप व्यर्थ हो जाता है। तपस्या से जब मन आर्त्त बनता है तो वह नये कर्मो का अर्जन करता है। इसलिए महावीर कहते हैं

**विवेकः प्रमुखो धर्मो, नाविवेको हि सिद्ध्यति**–धर्म विवेकप्रधान होता है। अविवेकी आदमी कभी लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। उसको मार्ग मिल ही नहीं पाता। बुद्ध ने कहा है–अज्ञानी आदमी तप करके भी नरक में जाता है। महावीर की भी यही स्वीकृति है। तप के द्वारा हमारा शरीर, मन और वाणी शान्त रहे और भावों की विशदता बनी रहे। यही तपस्या का उद्देश्य है। यदि भावों की विशुद्धि नहीं रहती, मन की प्रसन्नता और शरीर की समता नहीं रहती, तब

वह तप शरीर के लिए और मन के लिए पीड़ादायी बन जाता है।

यहां की परम्परा है कि हम दुःखों को निमन्त्रण दें और जो दुःख आते है उनमें धैर्य बनाए रखें। सुख–दुःख का युगल है। सुख के साथ दुःख और दुःख के साथ सुख जुड़ा हुआ है। जो आदमी सुख की खोज करता है उसे जान लेना चाहिए कि वह अप्रत्यक्ष रूप से दुःख की भी खोज कर रहा है। हम दोनों को अलग नहीं कर सकते। आदमी सुख में फूल जाता है और दुःख में कुम्हला जाता है। इन दोनों का प्रवाह ही हमें संसार में बनाए रखता है। यही सकर्म अवस्था है। जिस क्रिया के साथ मोह जुड़ा रहता है, वह क्रिया नये कर्मो का संग्रहण करती है। मोह कर्मो का राजा है। मोह मूढ़ता पैदा करता है, अपने आपकी विस्मृति कराता है।

स्व को छोड़कर 'पर' में घुल–मिल जाना मोह है। जब हम दूसरों के साथ घुल–मिल जाते हैं तब राग–द्वेष के चक्कर में फंसे रहते हैं। यह भयानक अवस्था है। सकर्मा आत्मा के कारण ज्ञान और दर्शन आच्छादित रहते हैं। शक्ति आच्छादित रहती है। इसीलिए मोह के उन्मूलन की बात कही गयी है। मोह का नाश करो, अन्यान्य कर्मो का उन्मूलन स्वतः हो जाएगा। यही एक कर्म ऐसा है जो विकृति पैदा करता है। अन्यान्य कर्म विकृति पैदा नहीं करते। वे हमारे शत्रु नहीं हैं। जितनी वासनाएं और उत्तेजनाएं पैदा होती हैं, वे सब मोह के कारण होती हैं। मोह को सेनापति की उपमा दी जाती है। रणक्षेत्र में सेनापति के भाग जाने पर सेना पलायन कर जाती है। इसी प्रकार मोह को नष्ट कर देने से शेष सारे कर्म – दोष नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार जड़ के सूख जाने पर वृक्ष हरा–भरा नहीं रहता उसी प्रकार मोह कर्म के सूख जाने पर, नष्ट हो जाने पर कर्म अंकुरित नहीं होते। जिस प्रकार जले हुए बीजों से अंकुर पैदा नहीं होते, उसी प्रकार कर्म–बीजों के जल जाने पर जन्म–मरण का अंकुर पैदा नहीं होता। ऐसा होने पर एक नये जीवन का प्रारम्भ होता है। जैसे–जैसे मोह क्षीण होने लगता है, वैसे–वैसे आत्मगुण प्रकट होने लगते हैं।

जब मोहकर्म की प्रबलता रहती है उस समय मन, वाणी और शरीर से जो प्रवृत्ति की जाती है वह अशुभ होती है। वह दुःखद स्थिति पैदा करती है। यह असत् कर्म है। दूसरा है सत् कर्म। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रवृत्ति के द्वारा दूसरों को पीड़ा नहीं होती, आन्तरिक वृत्ति भी सात्विक रहती है, वह है सत्कर्म। इसमें राग–द्वेष की प्रबलता नहीं होती। सत्कर्म की प्रवृत्ति से शुभकर्म का संग्रहण होता है। उसका परिणाम है–बाह्य जगत् में विशिष्ट उपलब्धियां, सुखद जीवन। लेकिन इस कार्य के द्वारा अध्यात्म की ओर प्रयाण नहीं होता। यदि व्यक्ति इन शुभ कर्मों के द्वारा प्राप्त बाह्य ऐश्वर्य में आसक्त हो जाता है, बाह्य संपदा की वृद्धि में लग जाता है तो ये कर्म नये कर्मों के अर्जन में सहयोगी बनते हैं। दुःख का क्रम फिर से शुरू हो जाता है। यही बात महात्मा भूरीबाई ने कही है–यदि तुम कर्म किए बिना नहीं रह सकते तो शुभ कर्म करो। यही साधना का मर्म है। इससे भी ऊंची साधना है कर्म नहीं करना। शुभ कर्म करना–यह बात सीधी–सी लगती है, पर है बहुत कठिन। कितने आदमी मिलेंगे जो बुरा नहीं सोचते, बुरा नहीं करते। आदमी का चिन्तन इतना विकारग्रस्त है कि वह न अपना हित सोचता है और न पर का हित ही सोचता है। वह स्वार्थ को प्रधानता देता है और धन को सब कुछ मानता है। वह चाहता है, मैं सम्पन्न बनूं और इसी चाह से वह अकार्य भी कर लेता है। एक पश्चिमी विचारक ने अपने काव्य में लिखा है–मुझे एक रात सपना आया। सपने में मैंने देखा कि एक फरिश्ता मुझे कह रहा है–मैं प्रसन्न हूं। कुछ मांगो। मैंने कहा–एक सुन्दर आलीशान मकान हो। फरिश्ते ने कहा–तथास्तु। फिर मांगने के लिए कहा। तब मैं बोला–मकान के चारों ओर एक सुन्दर बगीचा हो। वैसा ही हुआ। फिर कहा–और मांगो। मैं बोला–अब मैं चाहता हूं कि मेरे जितने भी पास पड़ोस में लोग रहते हैं वे मेरे इस बगीचे के बड़े–बड़े पेड़ों पर लटक जाएं। मैं पड़ोसियों को पेड़ों पर लटके हुए देखना चाहता हूं। उसी समय मेरा स्वप्न टूटा। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि

ओह ! मैं तो अपने आपको बहुत भला आदमी मानता था। मैं मानता था कि मैं धार्मिक हूं, चिन्तनशील हूं, परोपकारपरायण हूं। लेकिन मेरे भीतर कितने कुत्सित विचार भरे पड़े हैं, वासनाएं भरी पड़ी हैं, विद्वेष उभर रहा है।

वह विचारक सरल था। ऋजु था। उसने अपनी कमजोरियां स्वीकार कर लीं। पर सामान्यतः व्यक्ति अपनी कमजोरियों को स्वीकार नहीं करता। वह उनको सिद्ध करने में तर्क–वितर्क का जाल बुनता है।

कोई कर्म नहीं करना श्रेष्ठ है। पर यदि आप कर्म किए बिना नहीं रह सकते तो पवित्र कर्म करें। यह संकल्प करें कि मैं मन, वाणी और शरीर से ऐसा कर्म नहीं करूंगा जो स्वयं के लिए और पर के लिए पीड़ाकारक हो। किसी भी कर्म का परिणाम स्वयं को भुगतना होता है। बुरे विचार दूसरों का बुरा करें या नहीं, स्वयं का तो पहले ही बुरा कर डालते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अत्यन्त सजग रहना चाहिए। जो व्यक्ति केवल कर्तव्य के लिए कर्म करता है, फल के साथ नहीं जुड़ता, वह धीरे–धीरे अध्यात्म में प्रवेश पा लेता है। उसमें आकांक्षा क्षीण होती जाती हैं। जब कर्म के साथ फल की आकांक्षा जुड़ जाती है तब वह कर्म विशुद्ध नहीं रहता। उसमें प्रियता, अप्रियता का मिश्रण हो जाता है। भविष्य में होने वाले अभ्युदय को फलाकांक्षा अवरूद्ध कर देती है।

तीसरी अवस्था है–निष्कर्मा। इस अवस्था में कर्म नहीं किया जाता, वह होता है। व्यक्ति केवल साक्षी या द्रष्टा बनकर उसे देखता रहता है। आदमी गाड़ी में बैठा है। गाड़ी चल रही है। व्यक्ति देख रहा है कि गाडी चल रही है। यह सजगता है, जागरूकता है। यह निष्कर्मा अवस्था का एक पड़ाव है। यह निष्कर्मा अवस्था को प्राप्त करने का पहला सोपान है। केवल कर्म को देखते रहना। जो हो रहा है उसे द्रष्टाभाव से देखते रहना, कर्म के साथ कोई लगाव नहीं रखना। मैं कर रहा हूं–यह भाव भी नहीं होना, निष्कर्मा अवस्था है।

जब पूर्ण निष्कर्मा अवस्था प्राप्त होती है तब वह अकर्म बन जाता है। वहां नये कर्मों का अर्जन नहीं होता। पुराने क्षीण हो जाते हैं। तब आवृत अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वतः अभिव्यक्त होता है और चेतना अनन्त चतुष्टयी से जगमगा उठती है।

यह सारा स्वयं के पुरूषार्थ से घटित होता है। व्यक्ति स्वयं आवरण पैदा करता है और स्वयं ही उन आवरणों को तोड़ता है।

राजा उत्तानपाद के दो रानियां थीं। बड़ी का नाम सुरूचि और छोटी का सुनीता। दोनों के एक–एक पुत्र था। बड़ी रानी का उत्तम और छोटी रानी के पुत्र का नाम ध्रुव था ! राजा का प्यार बड़ी रानी सुरूचि पर अधिक था। एक दिन पिता की गोद में ध्रुव बैठा था। सुरूचि को यह नागवार लगा। उसने कहा–यह गोद तुम्हारे लिए नहीं है। इसके लिए तुम्हें तप करना होगा। नीचे उतर जाओ। वह अपमानित होकर रोता–रोता मां के पास आया। उस समय उसकी आयु मात्र सात वर्ष थी। मां ने कहा–बेटा ! तुमने पूर्व जन्म में तप, पुण्य नहीं किया था। उसका यह फल है। तुम तप करो। भगवान् प्रसन्न होंगे। ध्रुव तपस्या के लिए जंगल में चला गया। मार्ग में एक ऋषि मिले। ध्रुव ने भगवत्–प्राप्ति का उपाय पूछा–

ऋषि ने मन्त्र दिया और कहा–आसन लगाकर बैठ जाओ। तप करते रहो। वह नाम स्मरण में बैठ गया। एकचित्त प्रभु का जप करने लगा। दिन महीने और वर्ष बीत गये। उसका संकल्प अटल था। अन्ततोगत्वा उसकी भक्ति सफल हुई । भगवद्–दर्शन पाकर ध्रुव कृतकृत्य हो गया, उसकी साध फल गई।

पुरूषार्थ स्वयं फलित होता है। आवरणों को क्षीण करना स्वयं के पुरूषार्थ की बात है। निष्कर्मा अवस्था की ओर बढ़ने का तात्पर्य है आवरणों को क्षीण करते चले जाना। जैसे–जैसे आवरण क्षीण होंगे, वैसे–वैसे ज्ञान, आनन्द और शक्ति प्राप्त हो जायेगी।

वैज्ञानिक मानते हैं कि मस्तिष्क में बारह खरब कोशिकाएं हैं। आदमी उनका कुछेक भाग ही काम में ले पाता है। मस्तिष्क में

अल्फा, बेटा, थ्रेटा आदि विभिन्न प्रकार की विद्युत तरंगें पैदा होती रहती हैं और इन सबका भिन्न-भिन्न परिणाम होता है। ये सब अध्यवसाय के आधार पर उत्पन्न होती है। इनका असंतुलन मस्तिष्क में असंतुलन पैदा करता है। जब मोह की प्रबलता क्षीण होती है तब तरंगों का संतुलन होता है और मस्तिष्क का बैलेंस सधता है।

वैज्ञानिकों का अभिमत है कि इन बारह खरब कोशिकाओं में ध्यान के द्वारा, एकाग्रता के द्वारा समता पैदा हो जाती है। ध्यान तनाव-विजर्सन का मूल सूत्र है। तनाव से मुक्त होने का अर्थ है-मोह की प्रबलता को क्षीण करना, उसका अभाव पैदा करना, शान्त होना। हम चाहे मोह कर्म को शान्त करना कहें या चित्त को विश्राम देना कहें या शिथिलीकरण कहें-सब एक है। दोनों का अर्थ एक है। सैद्धान्तिक भाषा में कहते हैं मोह की उपशांतता और योग की भाषा में कहते हैं मन, वाणी और शरीर का शिथिलीकरण। इस स्थिति में मस्तिष्क में एक नयी विद्युतीय तरंग पैदा होती है और वह सभी कोशिकाओं में एकरूपता लाती है। मस्तिष्क शक्तिशाली बनता है, ज्ञान और दर्शन का आवरण टूटता है, आनन्द का झरना फूट पड़ता है और शक्ति का जागरण होता हैं।

इसीलिए भगवान बार-बार कहते हैं-मोहयुक्त आत्मा ही कर्म करती है। मोह विवेक को ढक देता है। जब विवेक जागृत होता है तब कर्मो का नाश होने लगता है। साधना से पुराने संचित कर्म विसर्जित होते हैं और नये कर्मो का बंधन नहीं होता। साधना और संयम एकार्थक हैं। संयम का अर्थ है-प्रवाह के द्वार को रोकना। मन, वाणी और काया का संयम करना अर्थात् उनसे आने वाले कर्म-बंध को रोकना। इसे दूसरे शब्दों में संवर कहा जा सकता है। यह संयत अवस्था है। इस अवस्था में चेतना की शुद्धि होती जाती है। इसलिए भगवान् ने कहा-मेघ ! तू इन सब बातों को छोड दे। एक काम कर। शुभ और अशुभ-इन दोनों प्रकार के कर्मो से तू दूर हो जा। शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्म बांधते हैं। राजसिक और

तामसिक गुण बांधते हैं तो सतो गुण भी बांधता है। जब तक व्यक्ति इन तीनों गुणों से अतीत नहीं हो जाता तब तक वह बंधनमुक्त नहीं हो सकता। वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकता। इसलिए मेघ ! यदि तू पूर्ण स्वतंत्र होना चाहता है तो शुभ और अशुभ दोनों कर्मो को छोड़। शुभ कर्म सोने की सांकल हैं और अशुभ कर्म लोहे की सांकल है। दोनों बन्धन हैं। वास्तव में सोने की सांकल आदमी को कसकर बांधती है। उससे छुटकारा पाना सहज नहीं है। लोहा आदमी को इतना नहीं बांधता, जितना सोना बांधता है। यह बन्धन विचित्र प्रकार का होता है। एक कंवि ने कहा है–

**आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यश्रृंखला।**
**यया बद्धा प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत् ।।**

तृष्णा सोने की सांकल है। यह विचित्र है। इससे बंधा हुआ आदमी स्थिर नहीं रहता, वह तृष्णा के पीछे भागता रहता है। जो इस सांकल से बंधे हुए नहीं हैं, वे स्थिर हैं, भाग नहीं रहे हैं। आसक्ति भागती है, अनासक्ति स्थिरता लाती है। आसक्ति बांधती है, अनासक्ति मुक्त करती है।

महान् विद्वान् पंडित माघ संस्कृत–आकाश का चमकता सितारा था। वह संवेदनशील था। अत्यन्त गरीबी में जीवन चला रहा था। वह जो कुछ मिलता दान देने में नहीं हिचकता। याचक को खाली हाथ लौटाना उसने नहीं सीखा था। एक दिन एक गरीब ब्राह्मण याचना के लिए आ पहुंचा । उसने कहा–बेटी की शादी है। घर में कुछ नहीं है। कुछ सहयोग दें। माघ बोला–विवश हूं। पर तुम आ गए तो खाली हाथ नहीं लौटने दूंगा। उस समय पत्नी सोयी हुई थी। उसके हाथ में दो स्वर्ण कंगन थे। माघ बिना आहट किए भीतर गए और धीरे से पत्नी के हाथ से एक कंगन निकालकर याचक को दे दिया। इतने में पत्नी की आंख खुली। वह बोली–अरे ! बेटी का विवाह है। एक कंगन से कैसे काम चलेगा ? यह दूसरा कंगन भी उसे दे दो। बेचारे को कुछ तो सहयोग मिलेगा । उसने दूसरा कंगन

भी याचक को दे दिया। स्वयं अत्यन्त दरिद्र अवस्था में थे, पर आसक्ति कम थी, राग नहीं था, लगाव नहीं था।

आसक्ति बंधन है। यही दु:ख पैदा करती है।

मेघ ! तुम सब कुछ छोड़कर उस तीसरी अवस्था–निष्काम अवस्था को प्राप्त करो। वहां अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करो। वहां न मनन है, न वाणी है और न काया की चेष्टा है। निष्कर्म बनने की चेष्टा करो।

मेघ उस दिशा में चरण बढ़ाने के लिए तत्पर हुआ। पर उसके मन में और अनेक जिज्ञासाएं उभरने लगी।

# सहजे-सहजे सहजानन्द

आज हम उस जगत में जाने का प्रयत्न कर रहे हैं जो सर्वथा नया है जिसमें आज तक हमने डुबकी नहीं लगाई। हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, वह स्थूल है। उसमें सहज आनन्द की कल्पना करना बहुत ही कठिन है।

महावीर मेघ को उस सहज आनन्द की ओर ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। उन्होंने कहा–व्यक्ति जितना निष्कर्म बनता चला जाता है, उतना ही वह स्थूल जगत् से हटकर अन्तर्जगत् में पैठता चला जाता है। जब तक सकर्म अवस्था बनी रहती है तब तक निष्कर्म अवस्था प्राप्त नहीं होती। यह सुनकर मेघ का मन जिज्ञासाओं से आन्दोलित हो उठता है। जिस निष्कर्म अवस्था की, मोक्ष की अनुभूति महावीर को है, वह मेघ को नहीं है। इसलिए वह कह रहा है–प्रभो ! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह मेरी समझ से परे हैं। आप कहते हैं–मन के पार जाओ, इन्द्रियों के पार जाओ, शरीर को भूल जाओ, तब उस सहज आनन्द की अनुभूति होगी। यह कैसे संभव है, क्योंकि आनन्द की अनुभूति के तीन साधन हैं–मन, वाणी और शरीर। जहां ये तीनों नहीं हैं–उस साधन–विहीन स्थान पर आनन्द कैसे? आनन्द है तो उसकी अनुभूति के साधन क्या हैं? पर आप कहते हैं–साधन न होने पर भी वहां आनन्द फूटता है, आनन्द का झरना प्रवाहित होता है, यह समझ से परे की बात है।

**साधनेन विहीनेऽस्मिन्, पथि प्रेरयसि प्रजाः ।**<br>**किमत्र कारणं ब्रूहि, देव जिज्ञासुरस्म्यहम् ।।४/५**

मेघ का यह प्रश्न अन्यथा नहीं हैं, क्योंकि मेघ जिस स्थिति में है उसमें यही प्रश्न हो सकता है। अभी तक उसने साधन–विहीन सुख का आस्वादन किया ही नहीं, जाना ही नहीं, तब भला वह उसे कैसे स्वीकार कर ले? कबीर कहते हैं–**रस गगन झरे**–आकाश से (आनन्द) रस झर रहा है। यदि आकाश में से रस झरता, आनन्द झरता, तो फिर वह सबके लिए अत्यन्त सुलभ हो जाता। लोग उसकी प्राप्ति के लिए इतनी कठोर साधनाएं नहीं करते। कबीर ने कहा तो उसका अनुभव उनके पास था। वह अनुभूत तथ्य था। जिन्होंने सुना वे अभी उस अनुभव तक नहीं पहुंच पाये थे। यही स्थिति मेघ की है।

मेघ की जिज्ञासा के समाधान में महावीर ने कहा–

**यत्सुखं कायिक वत्स ! वाचिकं मानसं तथा ।**
**अनुभूतं तदस्माभिरतः सुखमितीष्यते ।। ४/६**

मेघ ! जिस सुख का तूने अनुभव किया है, वह सुख शरीर–सापेक्ष है, वाणी–सापेक्ष है और मन–सापेक्ष है। वह सुख इन्द्रिय–सापेक्ष है। इसी का तूने अनुभव किया है, इसलिए तू इसे ही सुख मानता है। लेकिन शरीर, वाणी, मन और इन्द्रियों के पार भी कोई सुख है, उसकी कल्पना तुझे नहीं है।

**नानुभूतश्चिदानन्दः, इन्द्रियाणामगोचरः ।**
**वितर्क्यो मनसा नापि, स्वात्मदर्शनसंभवः ।। ४/७**

– चेतना का वह आनन्द इन्द्रियों का विषय नहीं बनता। इन्द्रियां उसे छू नहीं पातीं। मन और वाणी की वहां गति नहीं है। वह सुख सहज है, निरपेक्ष और निर्विकार है, अतीन्द्रिय है। वह आत्मदर्शन से उदभुत होता है।

सुख की वास्तविकता को जानने के लिए चार कसौटियां हैं–

**सहजं निरपेक्षञ्च, निर्विकारमतीन्द्रियम् ।**
**आनन्दं लभते योगी, बहिरव्यापृतेन्द्रियः ।। ४/६**

१. सुख सहज है या कृत्रिम ?
२. सुख सापेक्ष है या निरपेक्ष ?
३. सुख सविकार है या निर्विकार ?
४. सुख इन्द्रियजन्य है या अतीन्द्रिय ?

इन चार कसौटियों पर कसने से सुख की यथार्थता और अयथार्थता प्रमाणित हो जाती है। जो सुख सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय होता है, वह यथार्थ सुख है और जो असहज, सापेक्ष, सविकार और इन्द्रियजन्य होता है, वह अयथार्थ सुख है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है–**यो वै भूमा तत् सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।** जो भूमा (विशाल) है, वह सुख है। जो अल्प है, वह सुख नहीं है। फिर प्रश्न हुआ कि भूमा क्या है और अल्प क्या है ?

उत्तर में कहा गया–**यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यत् विजानाति, नान्यत् श्रृणोति स भूमा। यत्र अन्यत् पश्यति, अन्यत् विजानाति, अन्यत् श्रृणोति तत् अल्पम्।** जहां दूसरा नहीं देखा जाता, दूसरा नहीं जाना जाता, दूसरा नहीं सुना जाता, केवल एक ही तत्त्व देखा जाता है, जाना जाता है, सुना जाता है, वह है भूमा। जहां द्वैत है, दो हैं, अपने से अलग दूसरा और है, वह है अल्प। भूमा में केवल चेतना का या अस्तित्व का बोध रहता है, और कुछ नहीं। अद्वैत में आनन्द है, द्वैत में अल्पता है। द्वैत या अल्पता का तात्पर्य है–दूसरे से संपृक्त होना। यहां सहजता नहीं रहती। सहजता वहां होती है, जहाँ कोई दूसरा नहीं होता।

सहज क्या है, यह भी जटिल प्रश्न है। सहज, सहज सब कोई कहते हैं, पर उसकी मार्मिकता नहीं समझते। कबीर अपने शिष्यों से कहते हैं–तुम सब किस समाधि की ओर दौड़ लगा रहे हो। दौड़ों

मत। समाधि सहज होनी चाहिए--**साधो ! सहज समाधि भली**--जिसमें कृत्रिमता न हो। समाधि अभ्यासजनित नहीं होनी चाहिए, सहज उद्भूत होनी चाहिए। उसी सहज को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं--

**सहज सहज सब कोई कहे, सहज न चीन्हे कोय ।**
**जा सहजे साहिब मिले, सहज कहावे सोय ।।**

--सहज शब्द का उच्चारण सब करते हैं, पर सहज को पहचानता कौन है ? सहज को जानता कौन है ? जिस सहजता के द्वारा आत्मानुभूति होती है, चैतन्य का साक्षात्कार होता है, उसका नाम है--सहज समाधि।

वह सहज होता है जिसमें कुछ करना नहीं पड़ता। **सह जायते इति सहजः** --जो अपने आप होता है वह सहज है। जहां प्रयत्न है, वहां सहजता नहीं है। जब मन का तार भीतर से जुड़ जाता है तब सहज आनन्द प्रस्फुटित होता है। निष्काम अवस्था सहज अवस्था की ओर गति है।

दूसरी कसौटी है--निरपेक्षता--जिसमें किसी की अपेक्षा नहीं है। यह हो तो वह हो, ऐसी बात नहीं है। वह है निरपेक्ष। आंख से देखेंगे तो दर्शन का आनंद मिलेगा, कान से सुनेंगे तो सुनने का आनन्द मिलेगा। स्वाद का आनन्द रसनासापेक्ष होगा। यह सब सापेक्ष सुख की बात है। निरपेक्ष सुख वह है, जिसमें किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। वह भीतर का सुख होगा। बाह्य साधन बेचारे वहां पहुंच ही नहीं पाते हैं।

तीसरी कसौटी है--निर्विकारता। जो सदा एक समान रहता है, विकृत नहीं होता, न्यून या अधिक नहीं होता, छोटा या बड़ा नहीं होता। वह स्थिति है--निर्विकारता की। वह त्रैकालिक होगा--सामयिक नहीं। निर्विकार सुख सनातन होता है। एक बार आता है तो फिर नष्ट नहीं होता।

चौथी कसौटी है—अतीन्द्रियता। जो इन्द्रियों और मन से परे का है, वह है अतीन्द्रिय। वहां इन्द्रियां और मन पहुंच नहीं सकते। यह उनके पार का जगत् है। महावीर कहते हैं—मेघ ! तूने जिस सुख का आज तक अनुभव किया है, वह सुख असहज, सविकार, सापेक्ष और इन्द्रियजन्य है। इस जगत् में केवल वही सुख प्राप्त होता है क्योंकि यह जगत् इन्द्रियों और मन का जगत् है। यह सुख निर्बाध नहीं होता, बाधा सहित होता है। यहां का आदमी मानता है कि वह जिस सुख का अनुभव कर रहा है वह क्षणिक है, आया है और चला जायेगा। यह जानते हुए भी वह उसी दिशा में चला जा रहा है, दौड़ा जा रहा है, क्योंकि वह सुख उसमें अतृप्ति और आकांक्षा पैदा कर रहा है। वह अतृप्ति को मिटाने के लिए प्रयत्न करता है, पर और अधिक अतृप्त होता जाता है। इस चक्र का कहीं अन्त नहीं आता।

आदमी यदि अपने जीवन का मूल्यांकन करे तो प्रतीत होगा कि वह आज भी पशुवृत्ति में जी रहा है। पशु जिन–जिन सुखों का अनुभव करते हैं, उन्हीं सुखों का अनुभव आदमी कर रहा है। चेतना के विकास की वरीयता के कारण अनुभूति में कुछ अन्तर हो सकता है, लेकिन सुख वही है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चार वृत्तियां पशु और मनुष्य में समान हैं। इन वृत्तियों के पीछे पशु भी दौड़ रहा है और मनुष्य भी दौड़ रहा है। मनुष्य विकसित प्राणी है, इसीलिए उसकी दौड़ भी तेज है। वह इस इन्द्रिय जगत् से अभी तक ऊपर नहीं उठ पाया है, इसलिए उसमें पाशविकता है। उसकी समझ में ही नहीं आ रहा है कि इन्द्रियों से परे भी आनन्द है। महावीर उस जगत् में गये, अनुभव किया और बोले—जो व्यक्ति इन्द्रिय–विषयों में रंगा हुआ है, आसक्त है, तब तक वह विरंग या विरक्त नहीं हो सकता और बिना रंग को छोड़े अनुपम आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। रंगा हुआ व्यक्ति ऊपर नहीं देख सकता, अपने दृष्टिकोण को ऊर्ध्वमुखी नहीं बना सकता। वह अल्प को ही देखता रहेगा, भूमा को कभी नहीं देख पायेगा। वह ससीम में जीता रहेगा, असीम में कभी

छलांग नही लगा पायेगा। उस व्यक्ति के मन में वास्तविक सुख की स्फुरणा कभी नहीं हो पायेगी। महावीर की यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि यह ठीक से समझ में आ जाएं तो दृष्टिकोण का परिवर्तन तत्काल घटित हो सकता है।

धर्म की साधना आदमी को भीतर ले जाती है। जो धर्म आदमी को अन्तर्यात्रा के लिए प्रस्थित नहीं करता, वह वास्तव में धर्म नहीं होता। उसके द्वारा आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। जिस धर्म की आराधना से व्यक्ति में आनन्द का स्रोत नहीं फूटता, उस धर्म की उपादेयता क्या है ? धर्म वह है, जिसका स्पर्श करते ही परिवर्तन घटित होने लगे। धर्म भीतर के अनन्त प्रकाश को प्रकट करता है। कहा है–**ज्योतिः परं ध्यायताम्** । उस परम ज्योति की आराधना करो। उसे अभिव्यक्त करो। वह आन्तरिक ज्योति हजारों सूर्यो के आलोक से भी अधिक तेजस्वी और देदीप्यमान है। इस ज्योति का अनुभव वही कर सकता है जो इन्द्रिय–जगत् से परे उस दिव्य जगत् में चला गया है, जो इन्द्रियातीत है। कबीर कहते हैं–

**तन थिर मन थिर वचन थिर, सुरति निरति थिर होय ।**
**कहे कबीर ता पलक को, कलप सके नहीं कोय ।।**

आन्तरिक आनन्द के एक क्षण का अनुभव इतना अनुपम होता है कि हजारों–हजारों वर्षो के जीवन में उसकी अनुभूति नहीं की जा सकती। जब शरीर, मन और वाणी–तीनों स्थिर हो जाते हैं, चंचलता छोडकर अचंचल बन जाते हैं, उस पल का आनन्द अनुपम होता है। उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह है वास्तविक आनन्द। यह है यथार्थ और अनुपम सुख।

**न चेयं तार्किकी वाणी, न चेदं मानसं श्रुतम् ।**
**अनुभूतिरियं साक्षात्, संशयं कुरू माऽनघ ? ।। २/२६**

मेघ ! मैं तुझे कोरी तार्किक, काल्पनिक या सुनी हुई बात नहीं सुना रहा हूं। यह मेरी साक्षात् अनुभूति है, इसमें सन्देह मत कर। मैं किसी पन्थ या शास्त्र की बात नहीं दोहराता। मैं केवल अपने अनुभव का सत्य कहता हूं।

मेघ ! अनुत्तर विमानवासी देवों का सुख अतुलनीय होता है। भौतिक सुख का वह अन्तिम बिन्दु है, चरम सीमा है, पर बारह महीने का दीक्षित मुनि उन सुखों को लांघ जाता है। कितना सुख और आनन्द है श्रामण्य में।

**आत्मलीनो महायोगी वर्षमात्रेण संयमी ।**
**अतिक्रामति सर्वेषां, तेजोलेश्यां सुपर्वणाम् ।। ४/१०**

यह सुख काल्पनिक नहीं है, यथार्थ है। इसे साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह असम्भव नहीं है। असंभव उन व्यक्तियों के लिए हो सकता है जो कभी इन्द्रियातीत जगत् में पैर ही नहीं रखते। जो भी व्यक्ति उस जगत् की ओर चरण बढ़ाता है उसे यह अनुभव अवश्य होता है कि मन और इन्द्रियों से होने वाला सुख क्षुद्र है, तुच्छ है, क्षणिक है। जब तक व्यक्ति इन क्षुद्र सुखों में चलता रहता है, तब तक उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उसे अपने अस्तित्व को ही खो देना पड़ता है। उसका अपना कुछ भी नहीं रहता।

एक व्यक्ति सुखी दाम्पत्य जीवन का रहस्य बता रहा था। उसने कहा–मेरा दाम्पत्य जीवन बहुत सुखी है। उसके सुखी होने के दो प्रमुख सूत्र हैं, जिनका मैंने पग–पग पर पालन किया है। पहला सूत्र यह है कि–मैं अपनी पत्नी के कार्यों में कभी हस्तक्षेप नहीं करता। वह जो मर्जी हो करे। दूसरा सूत्र यह है कि मैं उसकी मर्जी के बिना एक कदम भी नहीं रखता। उसकी मर्जी के अनुसार चलता हूं। बस, इन दो सूत्रों के कारण आपस में कभी टकराव नहीं होता और जीवन

सुखमय बना रहता है।

यह सुख हो सकता है, पर व्यक्ति का अस्तित्व मिट जाता है। वह स्त्री का गुलाम होकर जीता हैं यह सुख नहीं, विवशता है।

महावीर कहते हैं–जिस दिन व्यक्ति अपने आनन्द को उपलब्ध हो जाता है, अपने अस्तित्व का बोध पा लेता है, उस दिन यह जगत् उसके लिए दूसरा हो जाता है। मेघ ! सन्देह मत करो, तुम स्वयं भीतर उतरो, और उस आनन्द को प्राप्त करो। स्वयं अनुभव किये बिना मेरी वाणी को रटने से कुछ नहीं होगा।

महावीर की यह बात कितनी महत्त्वपूर्ण है। आज लोग महावीर की वाणी दोहराने में गर्व का अनुभव करते हैं। वे कहते है–यह संसार मेरा नहीं है, मैं अकेला आया हूं, अकेला ही जाऊंगा। न मेरा जन्म है और न मेरी मृत्यु। आत्मा अजर–अमर है–ये कुछ सूत्र आदमी ने रट लिये और वह यह भूल गया कि इनको रटने से इनकी अनुभूति नहीं होती। इनको जीने से ही इनकी अनुभूति हो सकती है। मेरा कुछ नहीं है–यह बात कहने सुनने में सहज लगती है, पर लाखों–करोड़ों व्यक्तियों में कौन व्यक्ति इस सूत्र को जीवन में अपनाकर चलता है ? जिस व्यक्ति को यह अनुभव हो जाता है कि मेरा कुछ नहीं है, फिर उस व्यक्ति को पदार्थ पकड़ नहीं सकते। वह समस्त आसक्तियों से मुक्त हो जाता है। यह अवस्था या यह अनुभव तब होता है जब मनुष्य का शरीर, वाणी और मन स्थिर होता है, वृत्तियां शांत होती हैं। जब सारी चंचलताएं मिट जाती हैं तब यह बोध होता है–मेरा कुछ नहीं है, मैं अकेला हूं, आदि–आदि। यह निष्कर्म अवस्था के प्रारंभ में ही अनुभव में आ जाने वाली बात है। जब यह झलक प्राप्त हो जाती है तब आदमी परिवार, समाज और राष्ट्र में रहता हुआ भी अलिप्त रहता है। अलिप्त इतना कि वह उनमें रहता हुआ भी नहीं रहता। जितने दोष या विषमताएं हैं वें बाहर के जगत् में है। भीतर के जगत् में उनको अवकाश ही नहीं है। सारा द्वैत बाहर में है। भीतर में अद्वैत है।

संशय के बादलों को छिन्न–भिन्न करते हुए महावीर कहते हैं–मेघ ! उस आनन्द का मैं स्वयं प्रमाण हूं। मुझे देख। यह जो कुछ मैंने कहा है, वह मेरा अनुभव है, प्रत्यक्ष दर्शन है। इसमें तर्क का कोई अवकाश नहीं है और न इसमें किसी शाब्दिक प्रमाण की आवश्यकता है। पराया पराया होता है और अपना अपना। तू स्वयं अनुभव कर, प्रत्यक्ष कर। मेरे कथन को ही स्वीकार कर मत चल, तू स्वयं उस मार्ग पर चल। अपना अनुभव सदा सत्य होता है।

संबोधि का प्रवचन प्यास जगाने के प्रयोजन से किया जा रहा है। अनुत्तर मार्ग पर चलने का यह पहला कदम है। प्यास जग जाने पर आदमी उस ओर प्रयाण कर देता है। जब तक प्राणों में प्यास नहीं जगती तब तक हजार बार कहने पर भी व्यक्ति नहीं जगता। प्यास, जागरण का अनुपम उपाय है।

महावीर के कथन से मेघ के प्राणों में प्यास जागी और वह छटपटा उठा, इस बात को जानने के लिए कि अनुपम और निराबाध आनन्द की प्राप्ति के साधन क्या हैं ?

# सुख के साधन

मेघकुमार के मन में मोक्ष–सुख को पाने की उत्कंठा जागी और उसनें भगवान् से पूछा–

**प्रभो ! तवोपदेशेन, ज्ञातं मोक्षसुखं मया।**
**ब्यासेन साधनान्यस्य, ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ।। ५/१**

प्रभो ! आपके उपदेश से मैंने यह जान लिया कि मोक्षसुख ही परम सुख है। अब मैं जानना चाहता हूं कि उसकी प्राप्ति के उपाय कौन–कौन से हैं ? आप करूणा कर उन साधनों को विस्तार से बताएं।

भगवान् महावीर ने साधना के, अस्तित्व की यात्रा के, सत्य के साक्षात्कार के कुछ सूत्र प्रस्तुत किए। वे मेघकुमार के लिए ही नहीं, हम सबके लिए बहुत उपयोगी हैं। जिज्ञासा मेघ की है, इसलिए उसके लिए वे सूत्र अत्यन्त कारगर हैं। हमारी जिज्ञासा है या नहीं, नहीं कहा जा सकता। यदि जिज्ञासा नहीं है तो वे सूत्र कार्यकारी होंगे या नहीं, इसका पता नहीं है। जिस व्यक्ति में यह जिज्ञासा जागी है वह मेघ है और जिसमें यह जिज्ञासा नहीं है, वह मेघ नहीं है।

सबसे पहले महावीर मोह की ग्रन्थि के भेदन की प्रक्रिया का निर्देश करते हैं–

**मोक्षाभिलाषः संवेगः, धर्मश्रद्धास्ति तत्फलम्।**
**वैराग्यं च ततस्तस्मात्, ग्रन्थिभेदः प्रजायते।। ५/३५**

मेघ ! प्रत्येक व्यक्ति में मोह की सघनतम ग्रन्थि होती है। उस ग्रन्थि को तोड़ने के लिए सबसे पहले संवेग चाहिए। संवेग का अर्थ है–मोक्ष की अभिलाषा। संवेग नहीं है तो कुछ भी नहीं है। संवेग के होने पर अगले चरण स्वतः उठ जाते हैं।

आज धर्म–सम्प्रदाय बढ़ रहे हैं, संवेग घट रहा है। धर्म–संस्थानों का निर्माण जिस वेग से हो रहा है, उस वेग से धार्मिकता का निर्माण नहीं हो पा रहा है, धर्म प्रकट नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है व्यक्ति पशु के स्तर पर जीवन यापन कर रहा है। पशु और मनुष्य में धर्म ही तो एक भेदरेखा खींचता है। धर्म है तो मनुष्य है। धर्म नहीं है तो पशु है। कोई अन्तर नहीं है। धर्मस्थानों में जाकर भी आदमी संवेग कहां सीख पाता है ?

पति–पत्नी चर्च में गए। रविवार था। भीड़ बहुत थी। प्रार्थना प्रारम्भ हुई। लग रहा था सब प्रार्थना में ओतप्रोत हो रहे हैं। सभा सम्पन्न हुई। पति–पत्नी चर्च से बाहर आए। पत्नी ने पति से कहा–आपने देखा या नहीं? हमारे सामने की पंक्ति में, ठीक मेरे सामने, जो महिला बैठी थी, उसका सूट कितना सुन्दर था ? उसका टोप कितना डिजाइन वाला था? उसका पर्स कितना मूल्यवान था ? पति मौनभाव से सुनता रहा, फिर सिर हिलाकर बोला–मैंने ध्यान ही नहीं दिया। कुछ नहीं देखा। उस समय मुझे झपकी आ गयी थी। पत्नी तत्काल बोल उठी–तो आप चर्च में नींद लेने आते हैं। घर में ही रह जाते। पति ने कहा होगा– तो तुम यहां दूसरों को देखने आती हो, परमात्मा का स्मरण करने नहीं आती ? अच्छा होता नींद ले लेती, घर में रह जाती जिससे दूसरों की ओर तो ध्यान नहीं जाता।

दोनों ही चर्च में गए थे। एक वहां जाकर ऊंघ रहा था और दूसरा बाहर को देख रहा था।

आर्ज धर्मस्थानों में भी ऐसा ही कुछ हो रहा है, इसीलिए संवेग का अवतरण नहीं हो पा रहा है। संवेग के बिना प्रवचन का सार हृदयंगम नहीं हो सकता। संवेग होगा तो घटना घट जाएगी।

महावीर कहते हैं—मेघ ! संवेग चाहिए। संवेग का शाब्दिक अर्थ है तीव्र वेग, प्रचण्ड गति, मोक्ष—प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा, मुक्त होने की प्रबल भावना। जब यह भावना तीव्र होती है तब आदमी साधनों की खोज में निकल पड़ता है, उसे साधना—पथ प्राप्त हो जाता है। संवेग होने पर धर्म के प्रति आस्था, स्वयं के प्रति विश्वास, स्वभाव के प्रति श्रद्धा पैदा होगी। जब स्वभाव में आस्था होगी तो विभाव में स्वतः अनास्था पनपेगी। वैराग्य के प्रति आकर्षण होगा तो ऐहिक पदार्थों के प्रति अनाकर्षण पैदा हो जाएगा। अन्तर के प्रति अनुराग होगा तो बाह्य में विराग पैदा होगा। आज बाह्य पदार्थों के प्रति हमारा आकर्षण है, इसलिए धर्म के प्रति अनाकर्षण है। स्वभाव में श्रद्धा नहीं है, इसलिए विभाव में श्रद्धा जम रही है। आदमी बिना आकर्षण या श्रद्धा के जी नहीं सकता। वह कहीं न कहीं अपनी श्रद्धा को टिकाता है, आकर्षण बनाता है। जिनका 'स्व' में आकर्षण है, उनका 'पर' में आकर्षण नहीं है और जिनका 'पर' में आकर्षण है, उनका 'स्व' में आकर्षण नहीं हैं

वैराग्य का अर्थ है—बाह्य के प्रति आकर्षण का न होना। वैराग्य ग्रन्थि—भेद का एक उपाय है। वैराग्य होने पर, मोह की गांठ घुलती नहीं, खुलती जाती है।

एक शब्द में कहें तो संवेग में ग्रन्थिभेद के सारे सूत्र समा जाते हैं। मेघकुमार में मुक्त होने की प्रबल भावना जागी, स्वभाव में श्रद्धा हुई, विभाव से विरक्ति हुई, बस, गांठ खुलनी प्रारम्भ हो गई। अब और अधिक करने की जरूरत नहीं है। ऐसा व्यक्ति निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। संवेग हो गया, धर्म में आस्था गाढ़ हो गई। पर—पदार्थों में आकर्षण नहीं रहा। इस स्थिति में मोह रहेगा कैसे ? धीरे—धीरे उसको टूटना होगा। ग्रन्थिभेद की सारी प्रक्रिया इस एक सूत्र में समाहित हो गई। बडा प्रिय और मंगलकारी सूत्र है। पर से विकर्षण होने पर व्यक्ति धीरे—धीरे स्वभाव में यात्रा करने लग जाता हैं ।

संत दादू दुकान पर बैठे थे। सामान तोल रहे थे। ग्राहकों की भीड थी। उस भीड में उनके गुरू भी आकर खडे हो गए। दादू

सामान तोलने में व्यस्त थे। गुरू को देखा तक नहीं। गुरू खड़े रहे। भीड़ छंट गयी। दादू ने आंख उठाकर देखा, गुरू खड़े हैं। उसी क्षण वे उठे और गुरू के चरणों में नत होकर बोले–आप कब से खड़े हैं? मैंने आपको देखा नहीं, क्षमा करे। गुरू बोले–मुझे कोई अधिक समय नहीं हुआ है, लेकिन ऊपर खड़ा एक और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। वह कब से खड़ा है, पता नहीं। परमात्मा तुम्हारी प्रतीक्षा में है। उसकी तरफ भी कभी आंख उठाकर देखा या नहीं? बस, उसी समय दादू दुकान को यों ही छोड़कर परमात्मा की साधना में निकल पड़े।

यह है संवेग का परिणाम। जब परमात्मा को पाने की तीव्र लालसा जाग जाती है तब ग्रन्थिभेद हो जाता है।

हमें देखना है, क्या हमारे भीतर संवेग है। क्या धर्म के प्रति हमारी आस्था है ? क्या पदार्थों के प्रति विरक्ति है ? क्या हमारा आकर्षण इन्द्रिय–विषयों के प्रति है या उनके प्रति विकर्षण है ? अन्तरात्मा से हम सही उत्तर दें तो हमें हमारी स्थिति का सही अंकन हो सकता है। राग और विराग–दोनों साथ–साथ नहीं चल सकते। दोनों के आधार दो होंगे। पदार्थ के प्रति विराग और स्वभाव के प्रति राग हो सकता है, पर पदार्थों के प्रति भी राग रहे और स्वभाव के प्रति भी राग रहे, ऐसा नहीं हो सकता। सूर्य और अंधकार आमने–सामने नहीं हो सकते।

धर्म चल रहा है, पर वह फलीभूत नहीं हो रहा है। इसका कारण है कि संवेग नहीं है, तीव्र आकांक्षा नहीं है, स्वभाव की। इसलिए धर्म जीवित नहीं है।

साधना के दो प्रकार के सूत्र हैं – बाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक उपाय बाह्य उपायों को जन्म देते हैं। साधक जैसे–जैसे साधना की गहराई में उतरता है, वैसे–वैसे बाह्य उपाय उसके जीवन में स्वतः प्रकट होने लग जाते हैं, करना कुछ नहीं होता। लेकिन सभी व्यक्ति प्रारम्भ से ही आंतरिक उपायों का अभ्यास कर नहीं सकते,

इसलिए बाह्य उपायों का निर्देश भी आवश्यक हो जाता है। भगवान् ने दोनों प्रकार के उपायों की चर्चा की है। भगवान् ने आन्तरिक उपायों का निर्देश करते हुए कहा–

**नाणं च दंसणं चेव, चरितं च तवो तहा ।**
**एस मग्गोति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।**

साधना के चार घटक हैं–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। ज्ञान के द्वारा तत्त्व की सही पहचान होती है, पर उसका अनुभव नहीं होता। अनुभव होता है अभ्यास के द्वारा। ज्ञान के द्वारा कथित सच्चाई को जाना जा सकता है, पर उसका अनुभव स्वयं को ही करना होता है। एक सच्चाई दूसरों के द्वारा दी हुई होती है और एक सच्चाई स्वयं के द्वारा अनुभूत होती है। दोनों में बड़ा अन्तर है। किन्तु पहली सीढ़ी में ज्ञान भी अपेक्षित होता है, इसलिए कि हम ठीक से जान सकें। जानने के पश्चात् कुछ उसका अभ्यास होगा तब वह सत्य साक्षात् अनुभव में आ जाएगा। मंसूर बहुत प्रभावी सूफी संत था। उसने कहा–मेरे सामने खुदा भी आ जाए तो मुझे उससे क्षमा मांगनी नहीं पड़ेगी, क्योंकि मैंने आज तक ऐसा कोई काम किया ही नहीं जिससे परमात्मा रूष्ट हो सके। मेरी साधना का पहला सूत्र है–संसार में जितनी आत्माएं हैं उनमें परमात्मा को मानकर चलो। तुम साधना कर रहे हो, अभी इस सच्चाई का साक्षात् अनुभव नहीं है, फिर भी परमात्मा का अस्तित्व सब में मानकर चलोगे तो जिस दिन यह मान्यता सिद्ध हो जाएगी, फिर किसी से क्षमा मांगनी नहीं पड़ेगी। तब यह स्पष्ट होगा कि मेरे में जो है, वही दूसरे में है। मेरे भीतर परमात्मा विराजमान है तो दूसरों के भीतर भी वहीं परमसत्ता विद्यमान है। इसलिए मंसूर कहता है–मैं भी पहले–पहल इसी मान्यता को लेकर चला था और मैंने परमात्मा के सिवाय कुछ जाना–देखा ही नहीं।

जब हम सभी प्राणियों में परमात्मा का दर्शन करने लगेंगे तब

सारे भेद मिट जाएंगे। 'स्व' और 'पर' का भेद नहीं रहेगा।

महावीर ने साधना के सूत्रों की चर्चा करते हुए कहा–

**अहिंसा लक्षणो धर्मस्तितिक्षालक्षणस्तथा ।**
**यस्य कष्टे धृतिर्नास्ति, नाऽहिंसा तत्र संभवेत ।। ५/२**

साधना के दो महत्वपूर्ण सूत्र हैं – अहिंसा और तितिक्षा ।

धर्म का आधारभूत तत्त्व है अहिंसा। प्रत्येक धर्म–दर्शन में अहिंसा का समावेश है और उसकी चर्चा भी है । प्रत्येक पंथ के संतों ने अहिंसा को सार्वभौम तत्त्व मानकर उसकी साधना की है। अहिंसा के निरूपण में कुछ भिन्नताएं हो सकती हैं, पर उसकी स्वीकृति में सब एकमत हैं।

नानक मक्का गए तब उनसे पूछा–क्या आप 'रोजा' रखते हैं ? नानक ने कहा–जो 'रोजा' को माननेवाले हैं, वे साल में एक–दो बार रोजा रखते होंगे। मैं तो हर रोज ही रोजा रखता हूं। लोगों ने पूछा–क्या है आपका रोजा ? नानक बोले–रोजा रखने वालों के लिए तीन नियम हैं। पहला नियम है–खुदा का आदेश मानना। दूसरा है–आकांक्षा, तृष्णा को छोड़ना और तीसरा है–जीवों पर रहम करना। मैं प्रतिदिन तीनों नियमों का जी–जान से पालन करता हूं। मैं ईश्वर के आदेश के अनुसार काम करता हूं। दूसरों की इच्छा से नहीं चलता। मेरे मन में कोई आकांक्षा नहीं है। सारी तृष्णा को मैंने त्याग दिया है। मैं जीवों पर दया करता हूं। मैं अहिंसा का पालन करता हूं। यही मेरा रोजा है। पूछने वाले मौन हो गए।

नानक छोटी उम्र के थे। उनका जनेऊ संस्कार हो रहा था। ब्राह्मण संस्कार–विधि सम्पन्न करने आए । जब उनके गले में सूत की जनेऊ डाली जाने लगी तब नानक बोले–मत डालो मेरे गले में यह सूत का धागा। न जाने कब टूट जाए ? यह जनेऊ टूट सकती है। मेरी जनेऊ ऐसी होनी चाहिए जो दया के कपास की रूई से बनी

हो। यदि उस रूई से बनी जनेऊ हो, तो मैं पहन सकता हूं।

दया के प्रति कितनी आस्था ? यह है अहिंसा की बात। इसका प्रतिपादन सरल है, पर अभ्यास अत्यन्त कठिन है। सभी धर्मग्रन्थ अहिंसा और दया का पाठ पढ़ाते हैं, पर उन ग्रन्थों के आधार पर आध्यात्मिक जीवन जीने की बात कहने वाले अनुयायी उस दया और अहिंसा का कहां तक आचरण करते हैं ? चाहे जैन हो, बौद्ध और ईसाई हो, मुसलमान और सिख हो, कोई भी हो, वे सब बात अहिंसा की करते हैं, पर आचरण में वह प्रतिबिम्बित नहीं होती।

वास्तव में अहिंसा साधना का बाह्य नियम है। वह बाह्य उपचारों से फलित नहीं होती। वह फलित होती है अन्तर्यात्रा से। अहिंसा की उत्पत्ति भीतर से होती हैं । जो व्यक्ति आन्तरिक गहराई में नहीं उतरता, वह अहिंसा के मर्म को नहीं समझ पाता। यदि व्यक्ति केवल अहिंसा को पकड़ ले और भीतर में न उतरे तो अहिंसा की सही अभिव्यक्ति या अहिंसा का आनन्द नहीं आ सकता। अहिंसक अभय होता है। वह न स्वयं डरता है और न दूसरों को डराता है। वह स्वयं कष्ट सहन कर लेता है, पर दूसरों को पीड़ा नहीं पहुंचाता। वह स्वयं मर जाएगा, पर दूसरों को मारेगा नहीं। इसे लोग कायरता समझ सकते हैं। हां, कायर लोग इसे कायरता ही समझेंगे, पर यह है वीरता। स्वयं में जो कमजोर होता है, दूसरों को भी वह वैसे ही मानता है। अहिंसा कमजोरी का लक्षण नहीं है। मारना कमजोरी है, सहना कमजोरी नहीं है। भय कमजोरी है, अभय कमजोरी नहीं है। डरना कमजोरी है, डराना कमजोरी है, पर अभय होना और दूसरों को अभय करना कमजोरी नहीं है। आदमी दूसरों को पीटकर भाग जाना चाहता है। वह भागता इसीलिए है कि उसमें भय व्याप्त हो जाता है। यदि वह अभय होगा तो वहीं डटकर खड़ा रहेगा। पर भय के कारण भागने में ही बहादुरी समझता है। भय और दुःसाहस–ये दोनों साथ चलते हैं। यह अभय की स्थिति नहीं है।

नाभि से नीचे की ग्रन्थियां व्यक्ति में भय, आवेग, दुःसाहस,

आवेश पैदा करती है और ऊपर की ग्रन्थियां अहिंसा, सौहार्द, उदात्तभाव आदि पैदा करती हैं।

अहिंसा और भय में कोई सम्बन्ध नहीं है। महावीर कहते हैं—**अहिंसायाः भीतेश्च, दिगप्येका न विद्यते**—अहिंसा और भय की दिशाएं दो हैं। एक पूर्व है तो दूसरी पश्चिम। दोनों कभी मिलती नहीं। अहिंसक कभी डरता नहीं। डरता वह है जो कमजोर है। अहिंसक आन्तरिक शक्ति से सम्पन्न होता है। महावीर कहते हैं—

**सत्त्वान् स एव हन्यात् यः स्याद् भीरूः सत्त्ववर्जितः ।**
**अहिंसाशौर्यसम्पन्नो न हन्ति स्वं परांस्तथा ।। ५/३**

प्राणियों का हनन वही करता है जो भीरू है, शक्तिहीन है। अहिंसा की शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति अभय होता है, वह न स्वयं का हनन करता है और न पर का ।

सांप जा रहा है। आदमी उसे देखते ही मार डालता है। क्यों ? इसीलिए कि आदमी में भय है कि कहीं सांप डस न ले। यह भय उसे हिंसा के लिए प्रेरित करता है। जहां भय है, वहां हिंसा है। जहां अभय है, वहां अहिंसा है। हिंसा की मूल वृत्ति में भय काम करता है। अपने लिए भय है तो आदमी हिंसा करेगा। परिवार, समाज या राष्ट्र के लिए भय है तो आदमी हिंसा करेगा। इसीलिए भगवान् कहते हैं—**सत्त्वान् स एव हन्यात्, यः स्याद्भीरूः सत्त्ववर्जितः**—जिसमें शक्ति नहीं है, प्राण नहीं है, वही व्यक्ति हिंसा का आश्रय लेगा। अहिंसक व्यक्ति प्राणवान् होता है। वह हिंसा का पथ स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि मेरा विनाश कोई कर ही नहीं सकता। मैं न पहले मरा, न आज मर रहा हूं और न भविष्य में मरूंगा, तो फिर नाश किसका होगा ? जब इस सत्य का साक्षात् हो जाता है तब किसी की शक्ति नहीं कि उसे कोई मार सके।

जब ईसा को शूली पर चढ़ाया गया तब वे बोले—हे प्रभो ! इन लोगों को क्षमा कर देना। ये अज्ञानी हैं, जानते नहीं। सूफी संत मंसूर को जब शूली पर चढ़ाया गया तो वे हंस रहे थे लोगों की नादानियों

पर। सुकरात हंसते–हंसते जहर का प्याला पीकर शरीर से मुक्त हो गए। जिन लोगों ने जीसस के प्रति, मंसूर और सुकरात के प्रति, महावीर और बुद्ध के प्रति जो कुछ किया, उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। क्योंकि वे जानते थे, मैं नहीं मरता, मेरा नाश नहीं है। शरीर मरता है, का नाश है। इसके विनाश से मेरे में कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर इन लोगों पर क्यों आक्रोश किया जाए?

महावीर ने अहिंसा का बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। वे कहते हैं जो व्यक्ति राग और द्वेष से सम्पन्न होता है वह अहिंसक नहीं हो सकता। जहां राग और द्वेष है वहां हिंसा है। राग–द्वेष दोनों पाप हैं। अठारह पापों में इनकी गणना है। पाप अहिंसा नहीं हो सकता। अहिंसा वहीं है जहां राग नहीं है, द्वेष नहीं है। अहिंसा और दया एक ही है। लोग आदर्श के शिखर को छू नहीं पाते। वे आदर्श को ही अपने स्तर पर ले आते हैं। आज लोगों ने अपने–अपने बुद्धिबल से अहिंसा की व्याख्या कर उसके अंश को पकड़ रखा है। महावीर के स्तर पर पहुंचकर ही उस अहिंसा की पूर्णता और वास्तविकता को समझ सकते हैं।

अहिंसा का मूलरूप है–**स्वगुणे सत्त्वधीः यस्य**–आत्मगुणों में अपनी आत्मबुद्धि का होना, अपने गुणों में स्व का अनुभव होना अहिंसा है। अपने आपमें रहना अहिंसा है।

जीसस कहते हैं–धन्य हैं वे लोग जो दयालु हैं। उन पर परमात्मा की कृपा बरसती है। कुरान कहता है–इन्सान हो या हैवान, सब पर रहम करो। भगवान् कहते हैं–उस ज्ञान से क्या, जो अहिंसा से ओतप्रोत नहीं है? उन करोड़ों पद्यों का ज्ञान केवल भूसे के समान है, चारे के समान है, यदि मनुष्य ने यह नहीं जाना कि दूसरों को पीड़ा नहीं देनी चाहिए। यदि इतना स्वगत हो जाता है तो ज्ञान हो या न हो, कोई अन्तर नहीं आता। ज्ञान की सार्थकता यही है कि वह अहिंसा से अनुप्राणित हो।

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा की सुन्दर व्याख्या दी है। वे कहते हैं–

**जीव जीवे ते दया नहीं, मरे ते तो हिंसा मत जाण ।**
**मारण वाला वे हिंसक कह्यो, नहीं मारे ते दया गुण खाण ।।**

प्राणी अपने–अपने आयुष्य–बल के आधार पर जीवित रहते हैं, यह अहिंसा नहीं है, दया नहीं है। वे मरते हैं, यह हिंसा नहीं है। मारना हिंसा है और नहीं मारना अहिंसा है।

आदमी राग और द्वेष के वशीभूत होकर एक को मारता है, दूसरे को बचाता है। यह अहिंसा या दया नहीं है। अहिंसा या दया राग–द्वेष–शून्य स्थिति में होती है। मारने वाले के प्रति द्वेष और बचाने वाले के प्रति राग होता है। यह अहिंसा नहीं है। राग–द्वेष का न होना अहिंसा है। यह अहिंसा की कसौटी है।

धर्म की भी कसौटी करनी चाहिए। जिस धर्म में श्रुत है, शील है, तप है, दया है, वह वास्तव में धर्म है। जिसमें ये चारों नहीं हैं, वह धर्म नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस प्रवृत्ति में राग और द्वेष नहीं है, वह प्रवृत्ति अहिंसा है। जीवों का मरना या बचना हिंसा या अहिंसा नहीं है। हिंसा है जीवों की मारने की वृत्ति और अहिंसा है उनको न मारने की वृत्ति।

तुलसीदासजी ने कहा–दया–धर्म का मूल है। कब कही यह बात ? यह बात उनके मुख से तब निकली जब अहंकार हट गया, विषय–वासना हट गयी। पत्नी ने कहा–तुम्हारी जितनी प्रीति मेरे प्रति है, उतनी यदि राम के प्रति हो जाए तो संसार से मुक्त होने का उपाय हाथ लग जाए। तुम सांप को रस्सी मानकर उसके सहारे मेरे पास पहुंच गए। यदि ऐसा ही तीव्र प्रयत्न राम तक पहुंचने का हो जाता तो बेड़ा पार लग जाता। तुलसीदासजी का मन विरक्त हुआ और वे घर से निकल गए। तब उनके मुंह से निकला–'दया धर्म का मूल है।' उनकी वासना भीतर से समाप्त हो चुकी थी। जब तक वासना थी, तब तक दया कहां थी ? वासना आदमी को अंधा बौर बहरा बना देती है।

एक भोगी भी अंधा और बहरा होता है तो एक योगी भी अंधा और बहरा होता है। भोगी एक भोग्य वस्तु को ही देखता है, सुनता है, दूसरी वस्तु को नहीं। योगी भी ऐसा ही करता है, पर थोड़ा अन्तर है। भोगी की दृष्टि बाहर को देखती है और योगी की दृष्टि भीतर में देखती है। भोगी बाहर आसक्त है और योगी भीतर आसक्त है। भोगी 'पर' में अनुरक्त है और योगी 'स्व' में अनुरक्त है। 'पर' में आसक्त होना हिंसा है और 'स्व' में आसक्त होना अहिंसा है।

महावीर बोले—मेघ ! तुमने जो साधना के सूत्र की जिज्ञासा की, वह सूत्र है अहिंसा। अहिंसा अैर आत्म—विहार दोनों एक है। आत्मा में विहरण करना अहिंसा है। यही योग का बिन्दु हैं। यही योग का एक सूत्र है। धर्म और योग में कोई अन्तर नहीं है। कालान्तर में धर्म शब्द के अर्थ का अपकर्ष हो गया और योग शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हो गया। लोग मानते हैं कि योग सार्वजनिक है, किसी एक सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध नहीं है। तो क्या धर्म किसी सम्प्रदाय की बपौती है ? आप हैं तो आपका धर्म है। व्यक्ति है तो व्यक्ति का धर्म है, आत्मा हैं तो आत्मा का धर्म है। अहिंसा स्वयं आत्मा का धर्म है, स्वभाव है, आत्मगुण है, आत्मधर्म है। यह सबका धर्म है। जो आत्मवान् है, अहिंसा ही उनका गुण है, स्वभाव है। अहिंसा ही सबसे बड़ा योग है। जब व्यक्ति जाग जाता है, अहिंसा के प्रति तन्मय और तदात्म हो जाता है तब वह राग—द्वेष को बाहर ठहराकर भीतर चला जाता है। जब वह अपने भीतर प्रवेश कर लेता है तब उसे यह समझने में देरी नहीं लगती कि जो उसके स्वयं के भीतर है, वही दूसरों के भीतर है। अहिंसा धर्म सनातन है, शाश्वत है। इसीलिए कहा है—

**अतीतैर्भाविभिश्चापि, वर्तमानैः समै र्जिनैः ।**
**सर्वे जीवा न हन्तव्याः, एष धर्मो निरूपितः ।।५/१६**

जो तीर्थकर हो चुके हैं और होंगे, उन सबने इसी अहिंसा

का प्रतिपादन किया है। उनका उपदेश है–किसी भी जीव का हनन मत करो। किसी पर अपनी हुकूमत मत करो। महावीर ने अपने शिष्यों पर भी हुकूमत नहीं की, आदेश नहीं दिया। क्योंकि वे मानते थे, दूसरों पर नियन्त्रण करना हिंसा है। वे कहते हैं–किसी को अपने अधीन मत करो, दास–दासी मत बनाओ। यह हिंसा है। इस संदेश का परिणाम यह आया कि दास–दासी बनाने की प्रथा धीरे–धीरे शिथिल होने लगी। मनुष्यों पर किए जाने वाले अत्याचार कम होने लगे और तब दास–दासी बनने वालों ने सुख की सांस ली।

महावीर का शासन अनुशासित शासन था। वे आत्मानुशासन को विकसित करने का प्रयत्न करते थे, इसीलिए बाहरी अनुशासन की उतनी अपेक्षा नहीं रहती थी। उन्हें जो कहना होता, वह बात कह देते और फिर अहासुहं कहकर उसके पालन की स्वतन्त्रता दे देते। वे श्रेयस् और प्रेयस् का मार्ग बता देते और कहते–यह मार्ग ऊपर ले जाने वाला है और यह मार्ग नीचे ले जाने वाला है, **जं छेयं तं समायरे**-तुम्हें जो अच्छा लगे, उसका आचरण करो।

प्रस्तुत प्रसंग में महावीर ने साधना के बाह्य और आन्तरिक दोनों सूत्र प्रतिपादित किए हैं। सभी प्राणियों में मेरे जैसा ही चैतन्य प्रवाहित है; इसलिए मुझे किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए, किसी को पीड़ित नहीं करना चाहिए, किसी को दुःख नहीं देना चाहिए। यह मानना अहिंसा की बाह्य साधना है। अहिंसा की आन्तरिक साधना है–राग–द्वेष से परे होना। अहिंसा आत्मगुण है, उसकी सुरक्षा करना अहिंसा की आन्तरिक साधना है।

हिंसा के अनेक रूप है। ममत्व हिंसा है। ममत्व राग से उत्पन्न होता है–**ममत्वं रागसंभूतम्**। 'मेरेपन' की बुद्धि से ममत्व का विकास होता है। यह राग है। राग हिंसा है। जब ममत्व का विस्तार होता है तब राग भी बढ़ता जाता है। उस स्थिति में अहिंसा की या स्वयं की सुरक्षा कैसे संभव हो सकेगी ? चेतना का विकास कैसे हो पायेगा ? अहिंसा का रास्ता कठिन माना जाता है, पर वह कठिन नहीं है।

सरल और सीधा है। इसके लिए शर्त एक ही है राग को कम किया जाए, ममत्व को छोड़ा जाये। ममत्व छूटता है वैराग्य से। वैराग्य का अर्थ है–राग से विरत होना। आसक्ति का न होना विराग है, वैराग्य है। विराग की अवस्था आत्म–स्वभाव की अवस्था है। वैराग्य के द्वारा विकार नष्ट होते हैं, विकारों के नष्ट होने पर वासना नष्ट होती है और वासना के नष्ट होने पर मन स्थिर हो जाता है। मन को नचाने वाली, चंचल बनाने वाली वासना ही है। जितनी भी वासनाएं हैं वे मन की तरंगें हैं। भीतर में जो वासना का भंडार है, वह मन से ही बाहर निकलता है। कहा है–**अवैराग्यं च सर्वेषां भोगानां मूलमिष्यते**–अवैराग्य भोग का मूल है और वैराग्य योग का मूल है।

अहिंसा योग है और ज्ञान तथा दर्शन उसके दो अंग हैं। योग के तीन अंग हैं–ज्ञान, दर्शन और चारित्र। तप और वीर्य–ये दो अंग जोड़ने पर योगं के पांच घटक बन जाते हैं। यह साधन–सूत्रों का विस्तार है। ये सभी सूत्र बाह्य भी हैं और आन्तरिक भी हैं। जब तक ये मान्यतामात्र रहते हैं तब तक ये बाह्य हैं, और जब ये जीवनगत या ज्ञानगत हो जाते हैं, तब ये ही आन्तरिक बन जाते हैं। बाह्य अन्तर को प्रेरित करता है।

मेघ बोला–भगवन् ! आपने आत्म–साक्षात्कार का पथ निर्दिष्ट किया, कुछ साधन बताएं। अब आप बताएं कि उनका प्रयोग मैं कैसे करूं ?

भगवान् ने कहा–

**पर्यंकासनमासीनः, स्थिरकायः ऋजुस्थितिः ।**
**नासाग्रे पुद्गलेऽन्यत्र, न्यस्तदृष्टिः स्वमश्नुते ।। ५/३३**

मेघ ! अपना बोध तब होता है जब आसन स्थिर होता है। जिस व्यक्ति ने काया की स्थिरता साध ली, वह इस दिशा में आगे बढ सकता है। पर्यंकासन में बैठने से शरीर सीधा रहता है। ध्यान की

पहली शर्त है–स्थिरकाय। शरीर निश्चल रहे। दूसरी शर्त है–ऋजुस्थिति। शरीर सीधा रहे, रीढ़ की हड्डी सीधी रेखा में रहे। साधक टेढ़ा–मेढ़ा न बैठे। आगे झुककर या पीछे झुककर न बैठे। ग्रीवा और सिर तने हुए न रहें, पर सीधे रहें। उसके पश्चात् अपनी दृष्टि को नासाग्र या अन्य किसी केन्द्र पर स्थापित करे। यह ध्यान की मुद्रा है। यह सहज बन जाती है। इसमें बैठकर साधक देखता रहे, देखता रहे। वृत्तियाँ अपने आप शान्त होने लगेंगी, साधक भीतर प्रवेश करने लगेगा। जब यह अभ्यास बढ़ेगा तब अभिलषित लाभ होने लगेगा। इसमें जल्दबाजी करना हानिकारक है। अपने आपको जानने की यह एक सहज, सरल प्रक्रिया है। यह अनुभूत तथ्य है।

# आस्तिक-नास्तिक

भगवान् महावीर ने मेघ के सम्मुख साधना का पथ प्रस्तुत किया और साधन के रूप में अहिंसा पर बल दिया। उन्होंने कहा–जो अहिंसा को साध लेता है, वह सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि को भी साध लेता है। एक अहिंसा को जिसने साध लिया उसने सभी व्रतों की आराधना कर ली, क्योंकि अहिंसा मूल है। राग–द्वेष की शून्यता अहिंसा है। जहां राग–द्वेष है, वहां न अहिंसा है, न सत्य है और न अन्य व्रत हैं। लेकिन यह मार्ग उन लोगों के लिए है जो आस्तिक हैं। नास्तिकों का साधना में कोई विश्वास नहीं है। वे इसको बहुमान नहीं देते। दुनियां में आस्तिक भी है और नास्तिक भी हैं। महावीर कहते हैं–

**पृथक् छन्दाः प्रजा अत्र, पृथग्वादं क्रियाक्रियम् ।**
**क्रियां श्रद्दधते केचिदक्रियामपि केचन ।। ६/१**

इस जगत् में विभिन्न रूचि और अभिप्राय वाले लोग हैं। उनमें पृथक–पृथक् वाद प्रचलित हैं। कुछ व्यक्ति क्रियावाद–आत्मवाद को मानते हैं, और कुछ व्यक्ति अक्रियावाद–अनात्मवाद को मानते हैं। कई व्यक्ति आत्मा, कर्म आदि में विश्वास करते हैं और कई व्यक्ति इनमें विश्वास नहीं करते।

क्रियावाद और अक्रियावाद–ये दो प्राचीन पारिभाषिक शब्द हैं। क्रिया का अर्थ है–आस्तिक्य और अक्रिया का अर्थ है–नास्तिक्य। आस्तिक आत्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि में विश्वास करते हैं और नास्तिक इनमें विश्वास नहीं करते। प्रस्तुत प्रसंग में महावीर

सबसे पहले नास्तिक विचारधारा की अन्तिम परिणति की चर्चा कर रहे हैं, जिससे व्यक्ति नास्तिकता से हटकर आस्तिकता के जगत् में प्रवेश कर सके। महावीर ने कहा–

**सुकृतानां दृष्कृतानां च, निर्विशेषं फलं खलु।**
**मन्यन्ते विफलं कर्म, कल्याणं पापकं तथा ।।**

**प्रत्यायान्ति न जीवाश्च, न भोगः कर्मणां ध्रुवम् ।**
**इत्यास्थातो महेच्छाः स्युर्महाद्योगपरिग्रहाः ।। ६/३, ४**

जो नास्तिक व्यक्ति यह मानते हैं कि कर्म नहीं है, कर्म का फल नहीं है, पुनर्जन्म नहीं है, आत्मा नहीं है वे भूतवादी हैं। वे भौतिकता को प्रश्रय देते हैं। उनकी मान्यता है–खाओ, पीओ और मौज करो। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त उच्छृंखल हो जाते हैं और इनकी आस्था हिंसा में बढ़ती जाती है। ऐसे लोगों की इच्छा आकाश को छूने लगती है। उन असीम इच्छाओं की पूर्ति के लिए वे लोग नाना–विध हिंसक और अप्रामाणिक साधनों का उपयोग करते हैं।इनमें तब साधन–असाधन का विवेक नहीं रहता। वे येन–केन प्रकारेण सम्पत्ति का संवर्धन करने में जुटे रहते हैं और अपनी कार्य–सीमा को विस्तार देने में तन्मय हो जाते हैं। महावीर कहते हैं–ऐसे व्यक्ति महेच्छ–महान् इच्छा वाले, महान् तृष्णा वाले और महान् परिग्रही होते हैं। वे अत्यन्त दुःखी रहते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं और उससे भय और वैर बढ़ता है–**हिंसा सूतानि दुःखानि, भयवैरकराणि च।**

अहिंसा से दुःख उत्पन्न नहीं होता। हिंसा दुःख की जननी है। हिंसक व्यक्ति भयभीत होगा। वह विरोध और वैर को बढ़ायेगा। अहिंसक व्यक्ति वैर को नहीं बढ़ाता। उसे उपशांत कर देता है। अहिंसक व्यक्ति सदा अभय होता है।

प्राण–संधारण के लिए आजीविका आवश्यक होती है। आस्तिक व्यक्ति भी आजीविका करता है और नास्तिक व्यक्ति भी आजीविका करता है। दोनों के अर्जन में आकाश–पाताल का अन्तर है। नास्तिक की आजीविका पापयुक्त होती है। वे धर्म या अध्यात्म को महत्त्व नहीं देते। वे पापजीवी होते हैं। आस्तिक अपनी आजीविका में धर्म को ध्यान में रखता है। इसीलिए वे 'धम्माजीविया' होते हैं, धर्म के आधार पर आजीविका चलाने वाले होते हैं। वे अपनी आजीविका में अध्यात्म और धर्म को प्रधानता देंगे और नास्तिक की आजीविका अधर्म–प्रधान माया और मृषाप्रधान होगी। ऐसे व्यक्ति जन्म–मरण के चक्र में निरन्तर घूमते रहते हैं। वे संसार का अन्त नहीं पा सकते।

महावीर का यह प्रतिपादन अनुभूत सत्य है, यथार्थ है। वे केवल मान्यता की बात नहीं कहते। वे वही बात कहते हैं जो प्रजा में प्रतिबिम्बित होती है, अनुभूत होती है। अनुभूत सत्य अयथार्थ नहीं होता। आज का आदमी मान्यताओं पर जीता है, अनुभव करने का प्रयत्न नहीं करता। मान्यताएं बदलती रहती हैं और आदमी तब एक बिन्दु पर टिका नहीं रह पाता। अनुभव करने में खपना पड़ता है, तपना पड़ता है और आदमी ऐसा श्रम करना नहीं चाहता, इसलिए सारा जीवन मान्यताओं के आधार पर चलता है।

एक इतिहासकार सम्पूर्ण विश्व का इतिहास पांच भागों में लिखकर नेपोलियन को भेंट देने उपस्थित हुआ। नेपोलियन के सचिव ने उन पांचों भागों को टटोला। कुछ समय पश्चात् बोला–आपने बहुत श्रम से ये पांचों भाग तैयार किए हैं और इनमें विश्व की सम्पूर्ण जानकारियां एकत्रित की हैं। किन्तु ईश्वर के विषय में कुछ भी लिखा हुआ इसमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। वह इतिहासयज्ञ बोला–महाशय ! मैं ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता, इसलिए उसका उल्लेख मैंने नहीं किया। सचिव बोला– मैं ईश्वर में विश्वास करता हूं। अल्लाह और रब में मेरी आस्था है। यदि इन ग्रन्थों में ईश्वर के विषय की जानकारी नहीं है तो ये ग्रन्थ बेकार हैं। दोनों विवाद में उलझ

गए। एक कहता है–मैं ईश्वर को मानता हूं। दूसरा कहता है–ईश्वर नहीं है। 'है' और 'नहीं' का विवाद चलता रहा। दोनों के अपने–अपने तर्क थे। नेपोलियन ने बीच–बचाव करते हुए सचिव से पूछा–आप ईश्वर को मानते हैं, हां, ईश्वर में मेरा विश्वास है। क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार किया है ? नहीं, केवल आस्था है, अनुभव नहीं किया है।

फिर नेपोलियन ने इतिहासकार से पूछा–आप ईश्वर को नहीं मानते? मैं नहीं मानता। ईश्वर नहीं है, इसका प्रमाण क्या है ? क्या आपने ऐसा अनुभव किया है ? इतिहासज्ञ बोला–आस्था है कि ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। अनुभव कभी नहीं किया।

तब नेपोलियन बोला–दोनों मान्यता के आधार पर जी रहे हो। 'ईश्वर है' यह भी एक मान्यता है और 'ईश्वर नहीं है' यह भी एक मान्यतामात्र है। अनुभव दोनों को नहीं है। इसलिए 'है' और 'नहीं' का कोई मूल्य नहीं है।

आज भी ऐसा ही चल रहा है। आज भी आस्तिकों को पूछा जा सकता है कि आप आत्मा, परमात्मा, कर्म, स्वर्ग आदि को मानते हैं तो कहेंगे हां, जब आप पूछोगे, क्या इनका अनुभव भी किया ? उत्तर नकारात्मक ही होगा। यदि अनुभव किया है तो आस्तिक और नास्तिक में कोई अन्तर नहीं होगा। दोनों की जीवनचर्या समान देखने को मिलेगी। फिर आत्मा, कर्म, कर्मफल को मानने और न मानने में फर्क ही क्या पड़ा ? अतः मान्यता के आधार पर आस्तिक और नास्तिक का भेद किया जा सकता है, पर आचरण और व्यवहार के आधार पर भेद करना असंभव–सा हो जाता है। मानने मात्र से जीवन में क्रान्ति घटित नहीं होती। क्रान्ति घटित तब होती है जब व्यक्ति वास्तविक रूप में आस्तिकता और नास्तिकता को जीता है। आस्तिकता को जीने वाला धीरे–धीरे आस्तिक भाव को बढ़ाता हुआ आगे से आगे बढ़ता जाता है और नास्तिकता को यथार्थ में जीने वाला उसके कटु परिणामों से त्रस्त होकर, आस्तिकता

की ओर मुड़ जाता है।

जब आदमी का विश्वास आत्मा, कर्म, कर्मफल पर नहीं होता, तब वह अत्यन्त उच्छृंखल होकर अकरणीय को करने में नहीं हिचकता। ऐसी स्थिति में उसका ईश्वर होता है पैसा। पैसे की अभिवृद्धि के लिए वह सब कुछ करता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। वह ऐसे व्यवसाय प्रारम्भ करता है, जो हिंसाप्रधान, हेराफेरी प्रधान होते हैं। वह चाहता है केवल धन, और कुछ नहीं। ऐसी स्थिति में वह विवेक नहीं रख सकता कि कौन–सा व्यवसाय हमारे लिए करणीय है और कौन–सा अकरणीय है। वह भूल जाता है कि जो पापकर्म का वह अर्जन कर रहा है, उसका फलोपभोग भी उसे ही करना पड़ेगा। उसका विश्वास केवल अर्थ पर टिका रहता है, भोग पर टिका रहता है। ऐसा व्यक्ति मान्यता से आस्तिक होने पर भी आचरण से भयंकर नास्तिक ही है।

जो व्यक्ति यथार्थ में आस्तिक होगा, वह धन कमायेगा पर अनीति और अप्रामाणिकता से नहीं। अच्छे कर्म का अच्छा फल और बुरे कर्म का बुरा फल होता है–यह भावना निरन्तर उसकी स्मृति में बनी रहेगी।

महावीर कहते हैं–जिन व्यक्तियों का विश्वास स्वयं पर नहीं हैं, आत्मा और धर्म पर नहीं है, कर्म पर नहीं है, ऐसे व्यक्ति साधना के पथ पर कैसे आ सकते हैं ? वे अपने असत् कार्यों द्वारा स्वयं अशांत होते हैं और समाज, परिवार और राष्ट्र में अशांति उत्पन्न करते हैं–

आस्तिक तीन प्रकार के होते हैं–

१.तथाकथित आस्तिक,

२.अनुभवहीन आस्तिक

३.अनुभवयुक्त आस्तिक

तथाकथित आस्तिक केवल मान्यताओं को लेकर चलते हैं। वे केवल मान्यताओं को दोहराते रहते हैं। वे पुण्य, पाप, आत्मा को मानते हैं, पर आचरण ऐसा करते हैं कि मानो पुण्य, पाप या आत्मा

कोई चीज है ही नहीं। वे मान्यतामात्र के आस्तिक हैं, वास्तविक आस्तिक नहीं है। वे एक प्रकार से नास्तिक ही होते हैं। जैसे एक नास्तिक भोगों में आकंठ डूबा रहता है, अनीतिपूर्ण आचरण करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है, वैसे ही यदि आस्तिक भी कामवासना और सेक्स में डूबा रहे, अनीतिपूर्ण आचरण करे तो वह तथाकथित आस्तिक ही माना जाएगा। नास्तिक और ऐसे आस्तिक में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

दूसरे प्रकार के वे आस्तिक व्यक्ति हैं जिनका विश्वास आत्मा, परमात्मा, कर्म पर है, इसलिए वे कुछ हिंसा, झूठ, चोरी आदि से बचने का प्रयत्न करते हैं। वे ऐसे कर्म करना नहीं चाहते जिनसे जन्म–मरण की परम्परा बढ़े, नरक में जाना पड़े। वे ऐसे अशुभ कर्मो से अपना बचाव करते हैं, लेकिन आत्मा के अनुभव से भी रिक्त है। आत्मा के साक्षात्कार के बाद जीवन कुछ और ही प्रकार का होता है। बिना अनुभव का जीवन कुछ भिन्न होता है।

तीसरे प्रकार के आस्तिक वे होते हैं जो अनुभवयुक्त हैं। रामकृष्ण परमहंस को जब चेतना का साक्षात्कार हुआ तब उनके जीवन में एक अपूर्व क्रान्ति घटित हुई। एक आदमी उनसे मिलने आ रहा था। बीच मैदान के रास्ते में घास उगी हुई थी। वह आदमी घास रौंदता हुआ सीधा रामकृष्ण के पास पहुंचा। रामकृष्ण बोले–तुम मेरी छाती को रौंदते हुए आए हो, घास को नहीं। उस घास की चेतना में और मेरी चेतना में अन्तर क्या है ?

यह है अनुभव का एक उदाहरण, सत्य के साक्षात्कार का उदाहरण। जिसे आत्मा का अनुभव हो जाता है, उसमें यह क्रान्ति घटित होती है। ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में अनुभवयुक्त आस्तिक होता है।

तथाकथित और अनुभवहीन आस्तिक व्यक्ति ऐसे व्यवसाय या कार्य करते हैं, जिनमें आत्मा की विस्मृति हो जाती है। गर्भपात एक उसी कोटि का कार्य है। यह मनुष्य के नैतिक पतन का द्योतक है।

महावीर और बुद्ध ने इसे जघन्य कर्म माना है। वे जानते थे कि गर्भस्थ भ्रूण या शिशु की हत्या करना, उसका पात करना–कराना जघन्यतम काम है। इस अविकसित शिशु को सुख और दुख की वैसी ही संवेदना होती है, जैसी बाहर विकसित शिशु को। अमेरिका में वैज्ञानिकों ने एक फिल्म बनाई है, जिसमें उन्होंने एक सप्ताह, दो सप्ताह एवं एक मास, दो मास के गर्भस्थ शिशु में क्या–क्या क्रियाएं–प्रतिक्रियाएं होती हैं, उनको स्पष्ट रूप से दिखाया है। जब किसी प्रयोग से उसे बाहर निकाला जाता है, तब वह कितना कांपता है, उसको कितनी वेदना और पीड़ा होती है, यह भी दिखाया है। लेकिन आदमी अपनी कामवासना की पूर्ति करने और उसके परिणाम को छिपाने के लिए उस कुत्सित कार्य में अपनी सहमति दे देता है। आज तो कानून से भी यह वैध मान लिया गया है। यह तो बन्दर को बिच्छू काट खाने जैसी बात है।

सच्चा आस्तिक या धार्मिक वह है जिसने यह जान लिया कि मैं कौन हूं ? जब तक इसे नहीं जानते तब तक जीवन में रूपान्तरण घटित नहीं हो सकता, जो आग प्रज्वलित होनी चाहिए वह नहीं होती। जो एक बार 'मैं कौन हूं'– इस सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, वह एक क्षण के लिए भी उस सत्ता को नहीं भूल सकता। कभी विस्मृति होती है तो फिर स्मृति हो आती है।

एक बहन रोती–रोती गुरू नानक के पास आयी। नानक ने पूछा–बेटी! क्या हुआ ? वह बोली–मेरा पति गुजर गया। नानक बोले–

**रंडिया एह न आखियत, जिनके चलन भरतार ।**
**रंडिया सोई नानका, जेह विसरिया करतार ।।**

विधवा वह होती है, जिसका पति गुजर जाता है। यह व्यवहार की बात है। मेरी दृष्टि में विधवा वह है, रंडापन वह है, जिसमें करतार को भूला दिया जाता है। वास्तविक मालिक को भुला दिया जाता है।

वास्तव में हमारा मालिक तो हमारा अस्तित्व है, आत्मा है, करतार है। जैन परम्परा के एक आचार्य ने ऋषभनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है—**ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हांरो**—भगवान् ऋषभ मेरे पति है, स्वामी है। वास्तव में हमारा स्वामी हमारी चेतना है। जिस दिन आदमी इसका अनुभव कर लेता है, उस दिन वह संयोग—जन्य प्रसन्नता और वियोगजन्य दुःख से मुक्त हो जाता है। उसको न संयोग का आनन्द होता है और न वियोग का विषाद। वह समता में झूलता रहता है। वास्तव में संयोग भी दुःख है और वियोग भी दुःख है। संयोग है तो वियोग होगा ही और वियोग है तो पुनः संयोग होगा ही। एक के होने पर दूसरे का होना अनिवार्य है। इसको कोई नकार नहीं सकता।

आदमी मानता है कि कोई किसी का नहीं है। अकेला आया हूं और अकेला ही जाऊंगा। यह मान्यता मात्र है। यदि यह जीवनगत सत्य होता तो आदमी कभी वियोग में दुःखी नहीं होता। पर सभी मान्यता के आधार पर ही चल रहे है। साधना का पथ है—मान्यता से हटकर सत्य का साक्षात्कार करने के लिए अन्य मार्ग पर चलना। यही दीक्षा है। केवल वेश—परिवर्तन को दीक्षा नहीं कहा जाता। दीक्षा है मार्ग का परिवर्तन, मान्यता की लकीर से हटकर सत्य—साक्षात्कार के मार्ग पर चल पड़ना। सभी व्यक्ति एक ही मार्ग पर नहीं चल सकते। उनकी क्षमता पृथक्—पृथक होती है। क्षमता की तारतमता के आधार पर मार्ग भी छोटे—बड़े हो जाते हैं। महावीर कहते हैं—उपासक की चार कक्षाएं होती हैं—

१.सुलभबोधि।
२.सम्यक्दृष्टि।
३.व्रत—सम्पन्नता
४.संयम—सम्पन्नता।

इन चारों कक्षाओं का उद्देश्य एक है—स्वयं का साक्षात्कार ।

सुलभबोधि का अर्थ है–धर्मप्रिय व्यक्ति। इस कक्षा वाले में धर्म–कर्म का विशेष ज्ञान नहीं होता, पर धर्म के प्रति आकर्षण होता है, धर्म प्रिय लगता है। वह धर्म को सुनना समझना चाहता है, चाहे फिर वह उसका आचरण करे या न करे। सत्य के प्रति प्रीति का होना, सत्य से लगाव करना, धर्म से प्यार करना भी कोई कम घटना नहीं है। सुलभबोधि होना भी जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना है।

यह धर्म का पहला सोपान है। इसी पर कदम रखकर आगे बढ़ा जा सकता है। सुलभबोधि शब्द में बोधि शब्द बहुत महत्वपूर्ण है । बोधि का होना आत्म–साक्षात्कार की पहली शर्त है–सत्य के प्रति आस्था, सत्य के प्रति प्रेम। सुलभबोधि का तात्पर्यार्थ है–अन्तर्यात्रा में अपना पहला चरण रखना, उस ओर उन्मुख होना।

दूसरी कक्षा है–सम्यक्दृष्टि सम्पन्न होना। मान्यता को प्राप्त कर दर्शनवान् बनना और अनुभूति के आधार पर सम्यक्दृष्टा बनना। दोनों में बड़ा अन्तर है। मान्यता के आधार पर दर्शनवान् बनने वाले देव, गुरू और धर्म, नौ तत्त्व तथा छह द्रव्यों की जानकारी कर लेते हैं। वे इन तत्त्वों का विश्लेषण भी कर लेते हैं। यह वास्तव में बाह्य सम्यक्दर्शन है। जब व्यक्ति वास्तविक सम्यक्दृष्टि, अन्तर सम्यक्दर्शन प्राप्त करता है तब वह माने हुए तत्त्वों का अनुभव करने का प्रयत्न करता है। यह भी एक दुर्लभ घटना है। जैसे ही जीवन में सम्यक्त्व का, सम्यक्दृष्टि का प्रवेश होता है, जीवन में महक फूट पड़ती है, परिमल पैदा होता है। जीवन सुगन्धित बनने लगता है। यह भी एक प्रकार से नये जीवन का प्रारम्भ है।

तीसरी कक्षा है–श्रमणोपासक की, व्रती की। सम्यक्त्व में व्रतों का स्वीकरण नहीं होता। इस कक्षा में व्यक्ति व्रतों को स्वीकार कर, साधना के एक निश्चित पथ पर चरण बढ़ाता है। वह उस व्रती जीवन में सामायिक, पौषध आदि क्रियाएं करता है और वहीं से उनके जीवन में एक मोड प्रारम्भ हो जाता है। भगवान् महावीर के दस मुख्य श्रमणोपासकों की चर्चा आगमों में उल्लिखित है। वे गृहस्थ थे

श्रावक थे, फिर भी उनका जीवन बहुत उच्च था। उन्होंने अपने श्रमणोपासक जीवन में ऐसी साधना की कि वे सब देवता का एक भव कर, दूसरे मनुष्य भव में मुक्त हो जाएंगे। यह कम साधना नहीं है। साधना करते–करते उन्हें सत्य का बोध हो गया और वे इतने अभय हो गये कि बड़े से बड़ा भय भी उन्हें भयाक्रान्त नहीं कर सका, मार्ग से विचलित नहीं कर सका।

कामदेव श्रमणोपासक का प्रसंग आता है। वह रात में धर्माराधना कर रहा था। एक देव उसकी धर्मश्रद्धा की परीक्षा करने आया। पहले उसने राक्षस का भयावह रूप दिखाकर कामदेव को धर्माराधना से विचलित करना चाहा। फिर हाथी और सांप का विकराल रूप बनाकर डराया। कामदेव विचलित नहीं हुआ। देव ने हारकर कामदेव के चरणों में गिरकर क्षमा–याचना की। कामदेव बोला–कैसी क्षमा ? मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई विद्वेष या क्रोध नहीं है। क्षमा करने की बात ही क्या है ? मैं क्षमा तब देता जब मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई रोष होता दूसरे दिन कामदेव भगवान् महावीर की सन्निधि में गया। भगवान् ने अपने शिष्यों के समक्ष कामदेव के कष्ट–सहन की भूरि–भूरि प्रशंसा की।

श्रमणोपासक की दीक्षा भी अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। दीक्षा का अर्थ है–नये जीवन का प्रारम्भ। पुराने जीवन का परित्याग और नये जीवन का स्वीकार। मूल बात है, सत्य की ओर उन्मुख होना। इस दीक्षा में भी इच्छाओं और परिग्रह का सीमाकरण होता है। गृहस्थ जीवन का निर्वाह करते हुए भी अधिक समय धर्म की उपासना में बिताना होता है। यह कम मूल्यवान् बात नहीं है। यह कक्षा इस बात की ओर संकेत करती है कि आदमी जीवनभर गृहस्थी में ही रचा–पचा न रहे। अमुक अवस्था के पश्चात् वह अपना अधिक समय धर्म की आराधना में बिताए। जो व्यक्ति श्रामण्य स्वीकार नहीं कर सकते, उनके लिए यह कक्षा अत्यन्त उपादेय और लाभप्रद है। यह श्रामण्य की ओर उन्मुख होने की कड़ी ही है ।

चौथी कक्षा है–श्रामण्य । यह संयम–सम्पन्नता की अवस्था है। भगवान् ने कहा–मेघ ! गृहस्थ जीवन दुःख–बहुल है। कौन ऐसा ज्ञानी होगा जो घर में रहना चाहेगा ?

प्रत्येक धर्म–परम्परा में संन्यास की मान्यता रही है। वैदिक परम्परा में चार आश्रमों की कल्पना है–ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम। संन्यास आश्रम या श्रमण अवस्था का तात्पर्य यही है कि साधक समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर भगवत्–भजन में लीन रहे। संन्यास अर्थात् अपने आप में बैठना। वैदिक आश्रमों की कल्पना अवस्था–सापेक्ष और क्रमानुगत होती है। महावीर कहते हैं–जब चाहो, जिस उम्र में चाहो, तब श्रमण बन जाओ। श्रमण बनने के लिए अवस्था या ज्ञान की कोई प्रतिबद्धता नहीं है। इस कार्य में देरी मत करो–**मा पडिबंधं करेह**। जीवन क्षणभंगुर है। मौत का कोई भरोसा नहीं है। जब गृहस्थी से जी ऊब जाए, मन विरक्त हो जाए और आत्म दर्शन की तलप जाग जाए, तब श्रामण्य के मार्ग पर चल पड़ो।

महावीर बहुत महत्वपूर्ण बात यह कहते हैं कि श्रमण बन जाने पर भी जिनका मन श्रामण्य से ओतप्रोत नहीं हो जाता, संयम में जिनकी रूचि नहीं बढ़ जाती, उनसे तो कई गृहस्थ अच्छे है, जो संयम को प्रधान मानकर चलते हैं। महावीर की दृष्टि में वही अच्छा है जो संयम से ओतप्रोत है, फिर चाहे वह गृहस्थ ही क्यों न हो। तथाकथित साधुओं से तथा साधनाशील गृहस्थ से सम्पूर्ण व्रती, व्रतवान् व्यक्ति, अविरतियों से मुक्त व्यक्ति श्रेष्ठ है। उसकी तुलना गृहस्थ नहीं कर सकता। क्योंकि ऐसे व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन अपनी चेतना और अस्तित्व के प्रति समर्पित है। जब इतना समर्पण हो जाता है, तब सत्य का अवबोध अवश्य ही होता है। इन विभिन्न चर्चाओं के आधार पर ही महावीर ने साधकों की श्रेणियों का निर्धारण किया है।

भगवान् महावीर ने बाल और पंडित को भिन्न अर्थ में प्रस्तुत

किया है। वे उस व्यक्ति को बाल कहते हैं जो प्रमत्त है, मूढ़ है। जो व्यक्ति अप्रमत्त हैं, समता–बहुल हैं, वे पंडित हैं। जो व्यक्ति बेहोशी में जीता है, जीवन में जागरूक नहीं रहता, वह व्यक्ति चाहे साधु हो या गृहस्थ, बाल है। जो सदा जागृत रहता है, होश में रहता है, वह पंडित है।

इस चर्चा में उपसंहार में हमें समझना है कि हम आस्तिक हैं या नास्तिक ? आस्तिक हैं तो तथाकथित आस्तिक हैं या अनुभवहीन आस्तिक हैं या अनुभवयुक्त आस्तिक हैं ? हम साधना की किस श्रेणी में है ? यदि हम इन सबका चिंतन करेंगे तो हमारा यात्रापथ बदलेगा और हम लकीर पर चलने वाले जीवन से छुटकारा पाकर, नये मार्ग पर चलने के लिए कदम बढ़ा पाएंगे। हमारा जीवन तब साधनामय जीवन होगा। हम अपने राग–द्वेष पर नियंत्रण करें और वृत्तियों का परिष्कार करते हुए आगे बढ़ें। यदि हमारी साधना तीव्र होगी तो हमें सिद्धि की उपलब्धि शीघ्र हो सकेंगी। महर्षि पतंजलि कहते हैं–**तीव्रसंवेगानामासन्नः**– जिनमें संवेग तीव्र होता है, उनकी साधना शीघ्र फलित होती है और जो मृदु–सामान्य अवस्था में साधना करते हैं, उनकी साधना उसी रूप में परिणाम लाती है। मुख्य बात है भावों के उत्कर्ष, उत्कर्षतम और उत्कर्षतर की । किन्तु इतना स्पष्ट है कि साधनोन्मुखी भाव ही व्यक्ति को मुक्ति की ओर उन्मुखी करते हैं।

# आज्ञा : अनाज्ञा

भगवान् महावीर मेघकुमार को धर्म की एक कसौटी दे रहे हैं, जिस पर धर्म का परीक्षण किया जा सके। वे कहते हैं –

**आज्ञायां मामको धर्मः, आज्ञायां मामकं तपः ।**
**आज्ञामूढ़ा न जानन्ति, तत्त्वं मिथ्याग्रहोद्धताः ।। ७/१**

मेरा धर्म आज्ञा में है। मेरा तप आज्ञा में है। जो आज्ञामूढ़ हैं, मिथ्या आग्रह से उद्धत हैं, वे तत्त्व को नहीं जानते। आज्ञा शब्द हमारे लिए अपरिचित नहीं है। उसको सुनते–सुनते हम उसके अर्थ से बहुत दूर चले गए हैं। अति परिचय के कारण वस्तु का अवमूल्यन हो जाता है। आज्ञा शब्द का भी अवमूल्यन हुआ है। आज्ञा शब्द का प्रचलित अर्थ है–आदेश। किन्तु महावीर इसको गूढ़ अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। यही गूढ़ अर्थ प्रचलित अर्थ का प्राण है। इसी के आधार पर आदेश अर्थ प्राणवान् होता है। किन्तु आग्रही व्यक्ति, जिनकी तत्त्व में गहरी पैठ नहीं है, उसे अपने सांचे में ढ़ालने का प्रयत्न करते हैं। स्वयं उसके अनुरूप ढ़लना नहीं चाहते। इसलिए तत्त्वबोध उनके लिए दुर्लभ हो जाता है।

आग्रह बाह्य जीवन में भी अच्छा नहीं होता और आन्तरिक जीवन में भी अच्छा नहीं होता। आग्रह चेतना के विकास में बाधा उत्पन्न करता है। जहां आग्रह है वहां सत्य लाखों कोश दूर चला जाता है। आदमी में सत्य को समझने की तड़प भी नहीं है। उसमें इतनी जागरूकता भी नहीं है और उस व्यक्ति को प्रेरित करने वाले प्रबुद्ध व्यक्ति भी नहीं है। आज न महावीर हैं, न बुद्ध हैं, न जीसस हैं और

न नानक हैं। इसलिए आदमी सत्य को पकड़ नहीं पा रहा है। सत्य को उपलब्ध व्यक्ति ही सत्य का साक्षात् करा सकता है। अब हमारे पास साधन है केवल वह वाणी, जो साक्षात् द्रष्टाओं के मुख से निकली है।

महावीर कहते हैं–मेघ ! मैं जो कह रहा हूं कि मेरा धर्म और तप आज्ञा में है। तुम इसे पहचानो। मेघ बोला–भंते ! आपकी आज्ञा क्या है ? महावीर बोले –

**वीतरागेण यद् दृष्टं, उपदिष्टं समर्थितम् ।**
**आज्ञा सा प्रोच्यते बुद्धैर्भव्यानामात्मसिद्धये ।। ७/२**

मेघ ! वीतराग व्यक्ति ने जो देखा है, अनुभव किया है, जिसका उपदेश दिया है, जिसका समर्थन किया है, वह है आज्ञा। वीतराग व्यक्ति जिस प्रवृत्ति का उपदेश करते हैं, समर्थन करते हैं, यह करणीय है, यह अकरणीय है, यह सारा आज्ञा के अन्तर्गत आता है। इस आज्ञा का पालन कर भव्य व्यक्ति गन्तव्य को प्राप्त कर लेते हैं।

जैन परम्परा में 'भव्य' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। भव्य होना भी अलभ्य घटना है। यह ऊर्ध्वारोहण का पहला सोपान है। प्रत्येक व्यक्ति भव्य नहीं होता। कुछेक व्यक्ति ही भव्य होते हैं। भव्य व्यक्ति वे होते हैं, जिन्में धर्म प्रिय होता है, जिनमें चेतना के अवबोध की तड़प होती है, जिनमें यह जानने की भूख पैदा हो जाती है कि 'मैं कौन हूं' मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है, मैं इस संसार में क्यों आया हूं और मुझे क्या करना है ? अभव्य व्यक्ति में ये जिज्ञासाएं नहीं होतीं और होती भी हैं तो वह उनकी क्रियान्वित नहीं कर सकता। इसलिए भव्य होना एक उपलब्धि है।

भगवान् कहते हैं कि वीतराग व्यक्ति का वचन आज्ञा होता है। हमें समझना है कि वीतराग कौन होता है ? जो व्यक्ति राग और द्वेष से अतीत हो गया है, जिसके ये दोनों दोष नष्ट हो गए हैं, वह व्यक्ति वीतराग होता है। वीतराग का कथन यथार्थ होता है। राग और द्वेष

अयथार्थता पैदा करते हैं। मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति जब राग और द्वेष से प्रेरित होती है तब वह यथार्थता से दूर हो जाती है।

वीतराग ही पूर्ण सत्य का प्रवक्ता बन सकता है। छद्मस्थ पूर्ण सत्य का प्रवक्ता नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें राग–द्वेष होता है। वे अभी तक साधना की सीढ़ियों के पार नहीं पहुंच पाए हैं। वे चल रहे हैं। इसीलिए भगवान् महावीर कहते हैं कि सत्य का प्रवक्ता वही बन सकता है जो राग–द्वेष से परे हो चुका है। जब तक राग–द्वेष रहता है तब तक सत्य पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं होता।

शक्र स्तव में एक शब्द आता है "तिन्नापां तारयाणं"। इन्द्र भगवान की स्तुति करता हुआ कहता है कि प्रभो ! आप पार हो गये हैं, संसार सागर को तर चुके हैं, इसलिए अब दूसरों का उद्धार करो, दूसरों को भी वह किनारा दिखलाओ । यह कार्य हरेक व्यक्ति के वश का नहीं है।

आज का दीक्षित मुनि है या पचास वर्ष का दीक्षित हो, इस विशेषण की सार्थकता वहीं सिद्ध होती है जहां व्यक्तिने उन ऊंचाइयों को छू लिया है, तट के पार चला गया है। हम इस शब्द को बहुत साधारण बेव में लेते हैं, तरो और तारो। इसमें थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया जाय कि पहले तरो, पार पहुंचो और फिर पार ले चलो ओरों को भी। जिसने उस किनारे को देखा नहीं, तरा नहीं, वह दूसरों को कैसे तार सकता है ? इसका गूढ़ार्थ विस्मृत नहीं होना चाहिए । स्वयं को पार जाना है, तैरना है, इसे लक्ष्य में रख कर ही अगली क्रिया की ओर कदम उठना चाहिए। अन्यथा वांछित सफलता प्राप्त नहीं होती।

भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्षो तक कठोरतम साधना की, मौन रहे, ध्यान किया, सत्य की उपलब्धि के लिए पूर्ण समर्पित हो गए, तब उन्हें वीतराग की उपलब्धि हुई। उस स्थिति में उन्होंने प्रवचन किया और उस पहले प्रवचन ने हजारों व्यक्तियों की चेतना को झकझोर डाला और उनके भीतर एक नयी क्रान्ति पैदा कर दी।

जो व्यक्ति वर्षो से सत्य से दूर थे, एक ही प्रवचन से वे हजारों व्यक्ति सत्य के प्रति समर्पित हो गए, भगवान के चरणों में नत होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। यह कोई कम महत्त्व की घटना नहीं थी, बहुत बड़ी घटना थी। महावीर एक ओर पूर्ण रिक्त हो चुके थे तो दूसरी ओर पूर्ण भर चुके थे। उस स्थिति में उन्होंने जो आत्म–साक्षात्कार का मार्ग प्रतिपादित किया, उस पर चल पड़ने के लिए हजारों व्यक्ति प्रतिबद्ध हो गए।

इसीलिए महावीर ने जोर देकर कहा–मेरा धर्म आज्ञा में है, मेरा तप आज्ञा में है। आज्ञा है–राग–द्वेष का विवर्जन। राग है–प्रियता, द्वेष है–अप्रियता। जो प्रियता और अप्रियता से बंधा हुआ है वह आज्ञा का स्पर्श नहीं कर सकता। जो इस युगल से दूर है, वह आज्ञा का पालन सहज रूप से कर सकता है। राग प्रियता पैदा करता है और द्वेष अप्रियता पैदा करता है। दोनों असंतुलन पैदा करते हैं। आदमी प्रियता को आदर देता है और अप्रियता का तिरस्कार करता है। जहां प्रियता है वहां अप्रियता का और जहां अप्रियता है वहां प्रियता का होना अनिवार्य है। अप्रियता में आदमी क्या–क्या नहीं कर डालता। बच्चे का जन्म हुआ। वह कुरूप और बेडौल था। सोचा, यह मेरे सम्मान के लायक नहीं है। मां–बाप ने उसे फेंक दिया। यह अप्रियता का परिणाम है। कभी–कभी बच्चों की अदला–बदली भी कर ली जाती है।

बेगम ने पुत्र का प्रसव किया। उसका रूप–रंग अच्छा नहीं था। महलों के नीचे एक झोंपड़ी में एक जुलाहा रहता था। उन्हीं दिनों उसके घर भी एक बच्चे ने जन्म लिया। वह सुरूप था, सुन्दर था। बेगम ने उसे देखा। प्रियता जाग उठी। अप्रियता से छुटकारा पाने के लिए उसने बच्चे का परिवर्तन कर डाला, अपना बच्चा जुलाहे को दे दिया और उसका बच्चा स्वयं ने ले लिया। दोनों बढ़ने लगे। पर दोनों के संस्कार भिन्न थे। बादशाह का बच्चा आखिर बादशाह का बच्चा था और जुलाहे का बच्चा जुलाहे का था। दोनों के

कार्यकलापों में जमीन–आसमान का अन्तर था। जुलाहे के बच्चे में कपड़े बुनने के संस्कार थे और बादशाह के बच्चे में शासक के संस्कार थे। अब बेगम का परिवर्तित बच्चा महल में रूई धुनने, कपड़े बनाने जैसी हरकतें करने लगा। बादशाह को आश्चर्य हुआ। एक दिन बादशाह ने देखा कि महल के नीचे बच्चे खेल रहे हैं। जुलाहे का बालक बादशाह बनकर ऊपर बैठा है और दूसरे सारे खेल रहे हैं। वह आदेश दे रहा है और सब उसके आदेश का पालन कर रहे है। बादशाह का माथा ठनका। उसने बेगम से पूछा। बेगम बोली–जहांपनाह ! अपना शाहजादा कुरूप और काला था। जुलाहे का बच्चा सुरूप और सुन्दर था। मैंने अदला–बदली कर ली।

बादशाह बोला–तुमने बड़ी मूर्खता की है। कुरूप और काले होने से क्या? इसके संस्कार तो देखो। यह आज भी लड़कों पर बादशाहत कर रहा है।

जब तक प्रियता और अप्रियता रहती है तब तक आज्ञा का, अध्यात्म का स्पर्श नहीं हो सकता।

महावीर कहते हैं–सम्यक्‌दृष्टि, व्रती, श्रावक और साधु का लक्षण ही यही है कि वे राग–द्वेष के उन्मूलन के मार्ग पर बढ़ते चलें। राग–द्वेष एक साथ क्षीण नहीं होते। वे धीरे–धीरे क्षीण होते हैं। यदि उनमें कुछ भी क्षीणता नहीं आती है तो समझना चाहिए कि साधना–पथ अभी मिला नहीं है या मिला है तो वह अयथार्थ है। इसीलिए महावीर कहते हैं–

**आज्ञायामरतिर्योगिन् अनाज्ञायां रतिस्तथा**
**मा भूयात् ते क्वचिद् यस्मादाज्ञाहीनो विषीदति ।। ७/४**

मेघ ! आज्ञा में अरति और अनाज्ञा में रति नहीं होनी चाहिए। आज्ञा में अप्रेम और अनाज्ञा में प्रेम होना खतरनाक होता है। इसलिए योगी को, साधक को यह जान लेना चाहिए कि आज्ञा के प्रति कभी

भी अप्रेम न हो और अनाज्ञा के प्रति कभी प्रेम न हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जो बाह्य पदार्थों में आसक्त होते हैं वे अनाज्ञा में जी रहे हैं और जो आन्तरिक गुणों में आसक्त होते हैं वे आज्ञा में चल रहे हैं। एक साधक प्रेम करता है राग–द्वेष के विवर्जन में। वह प्रेम करता है आत्मा से, स्वभाव से, अपनी चेतना से। बस, स्वभाव से प्रेम करने का तात्पर्य है विभाव से अप्रेम, स्वभाव के साथ, चेतना के साथ जुड़ने का अर्थ है विभाव से और अचेतन से लगाव न करना। स्वभाव से जुड़ना आज्ञा है और विभाव से जुड़ना अनाज्ञा है। जब साधक समझ जाता है कि जिस कार्य में राग–द्वेष नहीं है, वही कार्य वीतराग की आज्ञा में है और जिसमें राग–द्वेष है, वह कार्य वीतराग की आज्ञा के बाहर है। आचार्य भिक्षु ने धर्म की यही पहचान दी–आज्ञा धर्म और अनाज्ञा अधर्म। इन चार शब्दों में धर्म–अधर्म की पूर्ण व्याख्या आ गई।

महावीर कहते हैं–मेरी आज्ञा का पालन ही मेरी उपासना है–

**अपरा तीर्थकृत् सेवा, तदाज्ञापालन परं ।**
**आज्ञाराद्धा विराद्धा च. शिवाय च भवाय च ।। ७/५**

तीर्थकरों की, वीतराग की आज्ञा का पालन करना परम धर्म है। अन्यान्य उपासनाएं गौण हैं। महावीर कहते हैं–मेरी सेवा करना, मेरी पर्युपासना करना, मेरे पास बैठना, बहुत साधारण बात है।

गौतम एक किसान को प्रतिबोध देकर महावीर के पास ला रहे हैं। किसान श्रमण बन गया है। उसने पूछा–भगवन् ! मुझे आप कहां ले जा रहे हैं ? गौतम बोले–अपने गुरू के पास। तो क्या आपके भी कोई गुरू हैं ? मैंने तो आपको ही गुरू समझा था। आप स्वयं इतने ऊंचे हैं, तो आपके भी कोई गुरू हैं। गौतम ने कहा–हां, मेरे भी एक आराध्य हैं, गुरू हैं, देवता है। मैं तुम्हें उन्हीं के पास ले जा रहा हूं। श्रमण ने कहा–तब तो वे बहुत ऊंचे और पहुंचे हुए होने चाहिए।

शिष्य जब इतना ऊंचा है तो गुरू की तो बात ही क्या ? गौतम और वह श्रमण–दोनों महावीर के समवसरण में आए। श्रमण ने महावीर को देखा और उसी समय उसके भीतर एक घटना घटित हो गयी। वह बोला–भंते ! गौतम ! यह लो तुम्हारा श्रमण वेष। मैं जा रहा हूं। गौतम पूछते क्या हो गया ? क्यों जा रहे हो ? किन्तु इससे पूर्व ही भगवान महावीर को देखते ही वहां ठहर नहीं सका। गौतम को बड़ा आश्चर्य हुआ–यह क्या हो गया ? गौतम ने भगवान् से पूछा–भंते ! आपको देखते ही वह श्रमण वेश छोड़कर क्यों भाग गया ? महावीर बोले–इसके पीछे एक रहस्य है। तुम नहीं जानते । इसका कारण वर्तमान नहीं, अतीत में है। बहुत समय पूर्व की बात है। यह श्रमण पशुयोनि में था। जंगल का राजा सिंह था। मैं एक प्रदेश का राजा था, वासुदेव था। यह सिंह लोगों को आतंकित करता था। मैंने इस सिंह को हाथ से चीर डाला था। आज जब उसने मुझे देखा, उसकी स्मृति ताजा हो गयी, उसने जान लिया कि मैं उसका शत्रु हूं। इस पूर्व स्मृति के भय से वह ठहर नहीं सका।

दीखने में बाहरी घटना कुछ ओर होती है और भीतर की घटना कुछ दूसरी होती हैं।

सेवा और उपासना का अर्थ बहुत गहरा है। हजार में कोई एकाध मिलेगा सेवा–उपासना करने वाला। सही सेवा वह करता है जो अपने उपास्य की आज्ञा का, कथन का पालन करता है। यही आन्तरिक उपासना है, यथार्थ उपासना है। शेष सारे क्रियाकांड हैं, औपचारिक उपासनाएं हैं। इसीलिए महावीर कहते हैं – तदाज्ञाराधनं परम्–आराध्य की आज्ञा का पालन करना परम सेवा है, उपासना है, धर्म है। जो आज्ञा की आराधना करता है, वह मुक्त हो जाता है। जो आज्ञा की आराधना नहीं करता, वह मुक्त नहीं होता। वह जन्म–मरण के चक्र में घूमता रहता है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा भव–भ्रमण मिटे, हम भवसागर से पार चले जाएं तो उसके लिए एक ही साधन है। वह है–आज्ञा की आराधना। इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा

सकता है—राग—द्वेष के विसर्जन की आराधना या समता की साधना। सभी मार्ग इसी में आकर समाहित होते हैं। धर्मो ने मुक्ति के जितने मार्गों का प्रतिपादन किया है वे सब पगडंडियां शिखर पर आकर मिल जाती हैं, एक हो जाती हैं। सभी धर्म मोक्ष—प्राप्ति के लिए राग—द्वेष की मुक्ति का कथन करते हैं। इसे आज्ञा कहें, समता कहें, संयम कहें—सब एक ही दिशा के पथिक हैं। असंयम अनाज्ञा है, विषमता है, संयम आज्ञा है, समता है। राग और द्वेष असंयम है, और इनका अभाव संयम है। स्थूलदृष्टि से अहिंसा संयम है, सत्य संयम है, अचौर्य और ब्रह्मचर्य संयम है, अपरिग्रह संयम है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह असंयम हैं। संयम में राग—द्वेष का अभाव है और असंयम में उनका भाव है।

सामान्य गृहस्थ के लिए राग—द्वेष से सम्पूर्ण मुक्त हो जाना संभव नहीं है। वह पूर्ण अहिंसा से जीवन—यापन करे, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। वह हिंसा करता है। महावीर ने हिंसा के प्रकार बतलाते हुए कहा—

**आरम्भाच्च विरोधाच्च, संकल्पाज्जायते खलु ।**
**तेन हिंसा त्रिधा प्रोक्ता, तत्त्वदर्शनकोविदैः ।। ७/१४**

हिंसा के तीन प्रकार होते हैं—आरंभजा हिंसा, विरोधजा हिंसा और संकल्पजा हिंसा। गृहस्थ को संकल्पजा हिंसा से अवश्य बचना चाहिए। वह शेष दो प्रकार की हिंसा से बच नहीं सकता। गृहस्थ आजीविका के लिए खेती करता है, अन्यान्य व्यवसाय करता है। वह कृषि, शिल्प, व्यवसाय के लिए हिंसा करता है। यद्यपि महावीर हिंसा का समर्थन नहीं करते, पर वे जानते हैं कि गृहस्थ को आजीविका—उपार्जन के लिए हिंसा करनी पड़ती है। इसलिए वे हिंसा का विवेक देते हैं। महावीर कहते हैं—गृहस्थ अनिवार्य हिंसा से बच नहीं सकता। आक्रमण के होने पर प्रत्याक्रमण की हिंसा से वह बच नहीं सकता। उसे परिवार की, समाज की और राष्ट्र की रक्षा

करनी होती है। यह उसका नैतिक कर्तव्य होता है। हिंसा हिंसा है, चाहे फिर वह किसी भी प्रयोजन से की जाए, परन्तु मेरी दृष्टि में वह हिंसा अनुचित नहीं है, क्योंकि वह गृहस्थ जीवन की अनिवार्यता है, एक पक्ष है। किन्तु प्रत्येक गृहस्थ संकल्पजा हिंसा से बच सकता है। उसे बचना ही चाहिए।

महावीर की भाषा में संकल्पजा हिंसा का स्वरूप यह है–

**लोभो द्वेषः प्रमादश्च, यस्या मुख्यं प्रयोजकम् ।**
**हेतुः गौणो न वा वृत्तेः, हिंसा संकल्पजास्ति सा ।। ७/१७**

जिस हिंसा के प्रयोजक या प्रेरक तत्त्व हैं–लोभ, द्वेष और प्रमाद। जिसमें आजीविका का प्रश्न गौण होता है या नहीं होता, वह संकल्पजा हिंसा है।

आदमी आजीविका चलाने के लिए हिंसा करे, उसका व्यवहार में औचित्य हो सकता है। पर आज सर्वत्र संकल्पजा हिंसा का तांडव नृत्य हो रहा है। जितने युद्ध होते हैं, हत्याएं होती हैं, वे सब राग–द्वेष से प्रेरित होती हैं। स्वयं के अहं की सुरक्षा या सत्ता का विस्तार या द्वेषवश हिंसा होती है। इनसे बचना महावीर का दृष्टिकोण है। आज अणु अस्त्रों के निर्माण की होड़, विषैली गैसों का निर्माण या अन्तरिक्ष युद्ध के लिए नये–नये उपायों की खोज, क्या किसी आजीविका के निमित्त की जा रही हैं ? क्या इसमें मनुष्य जाति के कल्याण की भावना निहित है ? आज गैस के रूप में ऐसे शस्त्र निर्मित हो चुके हैं, जिनसे मकान या पदार्थों की कोई क्षति नहीं होती, केवल आदमी राख का ढेर हो जाता है। ये सारी हिंसाएं संकल्पजा हिंसा में परिगणित होती हैं। सारा विनाश इसी हिंसा से होता है। इसीलिए महावीर बार–बार कहते हैं–समाज में रहने वाले, राष्ट्र में और विश्व में रहने वाले सभी व्यक्तियों को इस हिंसा से विरत होना चाहिए, तभी सर्वत्र सुख–शांति का साम्राज्य हो सकता है, अन्यथा सर्वत्र

आतंक ही आतंक फैला रहता है। दूसरे शब्दों में महावीर कहते हैं–**अहिंसा साधिता येन, ममाज्ञा तेन साधिता-** जिसने अहिंसा की आराधना की है, उसने मेरी आज्ञा की आराधना कर ली है। फिर हम उसी बिन्दु पर आते हैं कि राग–द्वेष से मुक्त होना ही अहिंसा है। कितना सूक्ष्म चिन्तन है अहिंसा का ! जिस प्रवृत्ति या विचारधारा में राग है, द्वेष है, वह प्रवृत्ति या विचारधारा हिंसा से अनुस्यूत है। हमने हिंसा को केवल स्थूल संदर्भ में ही समझा है। चींटी, मच्छर या मक्खी का मर जाना ही हिंसा है। प्राणी का मरना या न मरना हिंसा या अहिंसा नहीं हैं। मारने की प्रवृत्ति के पीछे राग–द्वेष जो है वह हिंसा है। प्राणी की हिंसा नहीं हुई, किन्तु प्रवृत्ति यदि प्रमाद से प्रेरित है, राग–द्वेष से प्रेरित है तो वहां हिंसा घटित हो जाती है। बुरा करना ही हिंसा नहीं है, बुरा सोचना भी हिंसा है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यानस्थ खड़े हैं। विचारों में मोड़ आया और चिन्तन ही चिन्तन में उन्होंने सातवें नरकगमन योग्य कर्मों का संचय कर डाला। चिन्तन मुड़ा और एक–एक कर सारे कर्म तोड़कर मुक्त हो गए । सातवें नरक के कर्मों का संचय हुआ राग–द्वेष की तीव्रता के कारण और उनकी क्षीणता से मुक्ति की उपलब्धि हुई।

महावीर की आत्मा से ये शब्द आविर्भूत हो रहे हैं कि अहिंसा और आज्ञा दो नहीं, एक ही हैं। जो अहिंसा की आराधना कर लेता है वह मेरी आराधना कर लेता है। यह मेरी उपासना है, सेवा है।

यदि हम अहिंसा के प्रति, महावीर की आज्ञा के प्रति जाग जाएं, तो हमारा परिवार, समाज और राष्ट्र शांति के प्रतीक बन जाते हैं, आदर्श बन जाते हैं। महावीर, बुद्ध या संतों के वचनों के आधार पर विश्व की व्यवस्था का निर्माण हो तो अशांति समाप्त हो सकती है, आनन्द का वातावरण बन सकता है। जिस देश की मिट्टी ने महावीर, बुद्ध, नानक, गांधी जैसे व्यक्तियों को जन्म दिया, उसी देश के व्यक्ति हिंसा, असत्य, चोरी, व्याभिचार में अग्रसर होते हैं तो यह कष्टपूर्ण स्थिति ही है।

महावीर क्षत्रिय थे। उनकी अहिंसा अभय से ओतप्रोत थी। जब से वे साधना के पथ पर अग्रसर हुए तब से उन्होंने तीनों प्रकार की हिंसाओं का त्याग कर दिया था। उनमें क्षात्रतेज था। वे भय से अतीत थे। इसलिए उनकी अहिंसा में भय का कोई स्थान नहीं है। यदि वे वैश्य होते तो संभव है अहिंसा दूसरे प्रकार की होती। उन्हें साधनाकाल में अनगिन कष्टों को सहना पड़ा। कष्ट सामान्य नहीं, मारणान्तिक कष्ट थे। पर उन्होंने अपने मन में द्वेष नहीं आने दिया। कष्ट देने वाले के प्रति अनिष्ट चिन्तन कभी नहीं किया। एक देव भगवान् को लम्बे समय तक कष्ट देता रहा। जब विश्रान्त होकर जाने लगा तब वह महावीर के चरणों में नत मस्तक होकर क्षमा मांगने लगा। महावीर बोले—देवानुप्रिय ! मेरी ओर से पहले भी क्षमा थी और अब भी क्षमा ही है। मुझे खेद इतना ही है कि मेरे जीवन से हजारों—लाखों व्यक्ति अपना कल्याण साध रहे हैं और तुमने मुझे माध्यम बनाकर अपना अकल्याण कर डाला। काश ! तुम भी मुझे माध्यम बनाकर अपना कल्याण कर पाते। कितना उच्च चिन्तन है ! ऐसा चिन्तन राग – द्वेष मुक्त व्यक्ति ही कर सकता है, यथार्थ साधक ही कर सकता है, अहिंसक ही कर सकता है।

अन्त में हम पुनः इन बिन्दुओं पर ध्यान दें—

- आज्ञा की आराधना मोक्ष की आराधना है।
- आज्ञा ही अहिंसा है।
- आज्ञा है राग—द्वेष का विसर्जन ।
- आज्ञा की आराधना ही महावीर की यथार्थ पर्युपासना है।

# रत्नत्रयी

भगवान् महावीर की अनुभव वाणी से मेघ की सुप्त चेतना धीरे–धीरे अंगड़ाई लेने लगी। वह जागृत हुआ। उसने सुना और जाना कि आज्ञा की आराधना से व्यक्ति दुःखमुक्त होता है। अब उसके मन में एक और जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

मेघ जो प्रश्न उपस्थित कर रहा है, वह समस्त शास्त्रों का सार है। यह पूर्वीय संस्कृति का प्रश्न है, भारतीय दर्शनों का निचोड़ है। यह जिज्ञासा आध्यात्मिक विकास की उच्चतम भूमिका पर पहुंचाने वाली है। अन्यान्य सैकड़ों जिज्ञासाओं से भी यह एक जिज्ञासा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अध्यात्म योग का पथिक गन्तव्य की ओर चरण बढ़ाता है। योग का अर्थ है–व्यक्ति को अपने आप से युक्त कर देना, जोड़ देना। हमारा जुड़ना बाहर से हो रहा है। सारी वृत्तियां बाहर से जुड़ी हुई हैं। मन, वाणी और शरीर–इन तीनों की प्रवृत्तियों को बाहर से हटाकर अन्तर से जोड़ने वाला है योग। जब तक व्यक्ति अपने से नहीं जुड़ता तब तक आवागमन नहीं मिट सकता। यही पूर्वीय और पश्चिमी दर्शनों में अन्तर है। पाश्चात्य दर्शनों में यह प्रश्न नहीं मिलता कि बंधन क्या है ? मोक्ष क्या है ? बंधन–मुक्ति के उपाय कौन–कौन से हैं ? ये प्रश्न इसी भूमि की उपज है। यहां के सभी धर्म–दर्शनों में पहला चिन्तन यहीं से प्रारम्भ होता है कि मैं बंधनमुक्त कैसे बनूं ? मैं मोक्ष की प्राप्ति कैसे करूँ ? जब तक ये प्रश्न उपस्थित नहीं होते, तब तक साधक को यथार्थ पथ नहीं मिलता, वह भटकता रहता है।

मेघ ने महावीर से पूछा –

**किं बन्धः किञ्च मोक्षस्तौ जायेते कथमात्मनाम् ?**
**तदहं श्रोतुमिच्छामि, सर्वदर्शिस्तवान्तिके ।। ८/१**

भंते! मैं आपके मुख से यह सुनना चाहता हूं कि बंधन क्या है ? मोक्ष क्या है ? आत्मा का बंधन कैसे होता है और बंधनमुक्ति कैसे होती है ?

मेघ कहता है–भगवन् ! मैं आपसे ही यह विषय सुनना चाहता हूं। क्योंकि आप उस स्थिति से गुजरे हैं, आपने स्वयं मुक्ति का अनुभव किया है।

अन्यान्य लोगों को पूछने से कोई प्रयोजन नहीं है। वे केवल बुद्धिबल से समाधान देते हैं और आप अनुभव की वाणी से समाधान देते हैं । बुद्धि उलझाती है, समाधान नहीं देती। अनुभव मन को समाहित कर देता है। आप जैसे अध्यात्मप्रधान व्यक्तियों का सम्पर्क स्वयं एक महान् घटना है। आपकी शुद्ध चेतना का सम्पर्क, पवित्रतम अनुभवों का श्रवण, सौभाग्य से ही प्राप्त होता है।

मेघ अत्यन्त सौभाग्यशाली था। उसे महावीर जैसे महान् आत्मा का सहवास मिला। ऐसे व्यक्तियों की सन्निधि से ही महान् उपलब्धियां हो जाती हैं। इनसे आलाप–संलाप करना, विचार–विमर्श करना, जिज्ञासाओं का समाधान पाना और भी महान् घटना है और अपने आप में उच्च उपलब्धि है।

इस दुनिया में वे व्यक्ति निम्न हैं जिनके मन में आत्म–दर्शन की जिज्ञासा नहीं जागती। वे व्यक्ति पामर हैं जो इस मनुष्य जीवन में आकर परमात्मा से प्यार नहीं करते, आत्मा से प्रेम नहीं करते और उसको पाने का प्रयत्न नहीं करते। स्वयं को जानने की जिज्ञासा जिनमें पैदा नहीं होती वे धन–धान्य से सम्पन्न होते हुए भी महान् दरिद्र हैं, तुच्छ हैं।

महावीर बोले–मेघ ! तुम्हारा पहला प्रश्न है कि 'बंध और मोक्ष क्या है ?' यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है और साधनापथ पर अग्रसर होने का प्रेरक प्रश्न है।

हमारे पास तीन साधन हैं—मन, वाणी और शरीर। इन तीनों के द्वारा हम बंधते हैं और इन तीनों के द्वारा ही हम बंधनमुक्त होते हैं। ये तीनों यदि ऊर्ध्वारोहण में प्रवृत्त होते हैं तो मुक्ति के साधन बनते हैं और यदि ये अधःप्रवृत्त होते हैं तो बंधन के साधन बनते हैं।

यह सम्पूर्ण जगत् विजातीय परमाणुओं से भरा पड़ा है। जब शरीर, मन और वाणी की प्रवृत्ति होती है, भीतर चंचलता पैदा होती है तब वे परमाणु आकृष्ट होकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं। वे कर्म शरीर को पुष्ट करते हैं। उन परमाणुओं का चेतना के साथ चिपकने का नाम है बंध और उनका चेतना से विलग हो जाने का नाम है मुक्ति।

आत्मा और जीव ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इनमें अन्तर भी किया जा सकता है। शुद्ध चेतना या शुद्ध अस्तित्व का नाम है आत्मा और कर्मबद्ध आत्मा का नाम है जीव। राम ने हनुमान से पूछा—तुम्हारा परिचय क्या है? हनुमान बोले—

**देहभावेन दासोऽस्मि, जीवभावे त्वदंशकः ।**
**आत्मभावे त्वमेवाहं, इति मे निश्चिता मतिः ।।**

प्रभो ! शरीर की दृष्टि से मैं आपका सेवक हूं, दास हूं। जीव की दृष्टि से मैं आपका एक अंश हूं, भाग हूं। आत्मा की दृष्टि से आप और मैं एक हैं, दो नहीं हैं। जो मैं हूं वही आप हैं और जो आप हैं वही मैं हूं।

महावीर ने कहा—मेघ ! आत्मा आस्रव—प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों से आबद्ध होती है और संवर—निवृत्ति के द्वारा वह कर्मों से मुक्त होती है। आस्रव के पांच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांच आस्रव हैं और इनके प्रतिपक्षी—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—ये पांच संवर हैं।

आस्रव बंधन का कारण है और संवर मुक्ति का कारण है। जो साधक इनका सही परिज्ञान कर लेता है वह भीतर की यात्रा पर

चल पड़ता है। उसका यात्रापथ निर्बाध और सहज हो जाता है। ऐसे साधक की बंधन–मुक्ति अवश्यंभावी है। साधक चाहे किसी भी देश, राष्ट्र, कुल या जाति का क्यों न हो ? वह इन दोनों तत्त्वों के परिज्ञान से आत्मोपलब्धि कर लेता है।

भारतीय धर्म–दर्शनों में ये दोनों तत्त्व विभिन्न नामों से व्याख्यात हैं। जैन दर्शन में जिसे मिथ्यात्व आस्रव कहा है, वैदिक दर्शन में उसे अविद्या कहा है। वे कहते हैं–अविद्या दुःख है, बंधन है और विद्या मुक्ति है। बुद्ध कहते हैं–जिन्हें चार आर्य सत्यों का ज्ञान नहीं है, वे बंधन से जुड़े हुए हैं। चार आर्य–सत्यों का ज्ञान न होना अविद्या है, अज्ञान है, दुःख है। यह अज्ञान अक्षर–बोध से संबंधित नहीं है। यह अज्ञान है–अपने आपको न जानना, विस्मृत कर देना।

मुक्ति का पहला बाधक तत्त्व है–मिथ्यात्व। इसका अर्थ है–जो जैसा है, उसको वैसा न समझकर उल्टा समझना। धर्म को अधर्म समझना, तत्त्व को अतत्त्व मानना, नश्वर को अनश्वर और आत्मा को अनात्मा मानना, दुःख को सुख और सुख को दुःख मानना–यह मिथ्यात्व है। यही सबसे बड़ा दुःख है। जब व्यक्ति का मिथ्यात्व मिटता है और जब उसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि सत्य क्या है, असत्य क्या है, नश्वर और अनश्वर क्या है, धर्म और अधर्म क्या है तब सारी उल्टी मान्यता छूट जाती है या यों कहें कि सही मान्यता प्रस्थापित हो जाती हे, आत्मगत हो जाती है। तब उन्हें छोड़ना नहीं पड़ता, वे स्वयं विसर्जित हो जाती हैं।

मैं छोड़ता हूं, मैं विसर्जित करता हूं–यह भी एक भ्रान्ति है। जो अपना है उसका विसर्जन नहीं होता। अपना है स्वभाव, शुद्ध चेतना। जो अपना नहीं है, स्वभाव नहीं है, विभाव है, विजातीय है, वह ऊर्ध्वारोहण की स्थिति में स्वतः छूटता जाता है। पर समस्या यह है कि आदमी, जो अपना नहीं है, उसे अपना मान रहा है। इससे बड़ा व्यामोह क्या हो सकता है ? शरीर के प्रति ममत्वबुद्धि का होना, जो अपना नहीं है उसे अपना मानना–क्या यह मिथ्यात्व नहीं है ?

विपरीत मानना नहीं है ? दृष्टिकोण का विपर्यास नहीं है ? शरीर पहले भी आपका नहीं था, आज भी आपका नहीं है और भविष्य में भी आपका नहीं रहेगा, उसके लिए यह कहना—**ममेदं शरीरं**—यह शरीर मेरा है, यह मोह की स्थिति है, मूढ़ता है। जो वस्त्र और अर्थ अपना नहीं है, उसे अपना समझना—मानना मूढ़ता है। जो अपना नहीं है, उसके विषय में यह कहना कि मैंने यह छोड़ा है, इसका विसर्जन किया है, क्या यह त्रुटिपूर्ण चिन्तन नहीं है ?

मिथ्यात्व के दो प्रकार हैं—आभिग्रहिक मिथ्यात्व और अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व। अयथार्थ तत्त्व में यथार्थता का दुराग्रह होना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है और यथार्थ तत्त्व का ज्ञान न होना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। यह अज्ञानजन्य मिथ्यात्व है और वह दुराग्रहजन्य मिथ्यात्व है। आभिग्रहिक मिथ्यात्व से युक्त व्यक्ति जिस बात को पकड़ लेते हैं, उसे छोड़ते नहीं। वे यही मानते हैं कि जो पकड़ लिया, वही सही है। वे जानते हुए भी सही को स्वीकार नहीं करते। उनमें गहरा दुराग्रह होता है, कदाग्रह होता हैं।

एक व्यक्ति कुएं पर गया और पानी पीने लगा। दूसरे व्यक्ति ने कहा— अरे ! इस कुएं का पानी तो खारा है। इसे क्यों पी रहे हो ? निकटवर्ती दूसरे कुएं का पानी मीठा है, उसे पीकर प्यास बुझा लो। वह बोला—चुप रहो। मैं तो इसी कुएं का पानी पीऊंगा, भले ही वह खारा क्यों न हो, क्योंकि यह मेरे बाप का कुआं है। मैं इसे छोड़कर अन्यत्र क्यों भटकता फिरूं—**तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणांः क्षारं जलं कापुरूषाः पिबन्ति।** यह आभिग्रहिक मिथ्यात्व की स्थिति है।

राजा प्रदेशी एक संत के पास आया। धर्म की चर्चा चली। अन्त में बोला—महाराज ! आपका अपने पास रखें और मेरा मेरे पास रहने दें। मैं अपनी पकड़ी हुई बात को नहीं छोड़ूंगा। तब संत ने उसकी इस बात पर कठोर प्रहार करते हुए कहा—राजन् ! तुम ऐसे मूर्ख हो, जैसे लोह वणिक् था। राजा ने पूछा—कौन था वह ? संत बोले—चार साथी मिलकर व्यापार करने के लिए देशान्तर चले। रास्ते

में लोहे की खान आयी। चारों ने लोहा इकट्ठा कर अपने–अपने थैले में भर लिया। आगे चले। तांबे की खान आई। तीन व्यक्तियों ने लोहे से भरा थैला वहां खाली कर उसमें तांबा भर लिया। एक व्यक्ति ने लोहा ही रखा। आगे चले। चांदी की खान आयी। तीनों ने तांबा खाली कर चांदी भर ली। लोहे वाले ने लोहा ही रखा। आगे चले। हीरे–पन्नों की खान आयी तो तीनों ने चांदी वहीं डाल, हीरे–पन्नों से थैले भर लिये। लोहे की थैली वाला अभी भी लोहे को लिये हुए था। तीनों बोले–मित्र ! अब लोहा यहां डाल दो और हीरे ले लो। वह बोला–मैं तुम्हारे जैसा चंचल;–अस्थिर नहीं हूं। यह लिया और वह डाला–ऐसा करना मैने नहीं सीखा, जो एक बार ले लिया, वह ले लिया, मैं तुम्हारी तरह यह गिराया वह लिया, उसे गिराया फिर दूसरा लिया। मैं ऐसा नहीं हूं। तीनों के मन में करूणा जागी और उन्होंने मुट्ठीभर हीरे उसके थैले में डाल दिए। उन मुट्ठीभर हीरों को बाहर फेंकते हुए वह गुर्राया–मेरे काम में हस्तक्षेप मत करो। सिर फोड़ दूंगा।

संत बोले–वह था लोह वणिक्। हीरों का मूल्य जानता था, फिर भी उसने दुराग्रह के कारण लोहे को पकड़े रखा। खैर, इससे भौतिक नुकसान हो सकता है, पर अतत्व को तत्त्व या अशाश्वत को शाश्वत मानने से भयंकर नुकसान होता है। यह है आभिग्रहिक मिथ्यात्व ।

प्रवृत्ति के पांच प्रकार हैं।

प्रवृत्ति का पहला प्रकार है–मिथ्यात्व। यह सबसे खतरनाक है। इसमें व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता। 'स्व' और 'पर' का भेद नहीं होता। बुद्ध की भाषा में यह अविद्या आस्रव है। पतंजलि इसे अविद्या कहते हैं। अविद्या या मिथ्यात्व का उन्मूलन करना ही साधना का लक्ष्य है। धर्म की दिशा में यह प्रथम पदन्यास है। मिथ्यात्व की विद्यमानता में न तो तत्वों के प्रति श्रद्धा जागृत होती है और न सत्य के प्रति आकर्षण।

प्रवृत्ति का दूसरा प्रकार है–अविरति। व्यक्ति का दर्शन सम्यक्

नहीं होता है तब पदार्थों के प्रति आकर्षण न होने की बात कैसे फलित हो सकती है ! ऊपर–ऊपर विरति पल सकती है किन्तु पदार्थों का मोह नहीं छूटता। एक पदार्थ या व्यक्ति से मोह छूटता है तो दूसरे के प्रति अधिक मोह जागृत हो जाता है। अविरति आन्तरिक लालसा है। सत्य की शोध में बाहर से विकर्षण भी अपेक्षित है। किन्तु इसके साथ–साथ आन्तरिक आकर्षण का क्रम चलना नितान्त स्पृहणीय है। अन्यथा वह विराग जीवन नहीं हो सकता।

प्रवृत्ति का तीसरा प्रकार है–प्रमाद। यह व्यक्ति को जाग्रत नहीं होने देता। स्व–विस्मृति में इसका बहुत बड़ा हाथ है। इसके बहुविध आवरण हैं– शराब, नींद, विकथा (जो बातें स्वयं से दूर ले जाती हैं) इन्द्रिय विषय और कषाय–प्रमाद को पुष्ट करने में ये पांच महत्वपूर्ण सहयोगी हैं। इन अवस्थाओं में जीने का अर्थ है–स्वयं के प्रति अनुत्साह। सामान्यतया मनुष्य इन्हीं के इर्द–गिर्द घूमता है। ये वृत्तियां आदमी को भीतर झांकने नहीं देतीं।

प्रवृत्ति का चौथा प्रकार है–कषाय। कषाय प्रमाद के अन्तर्गत होने पर भी प्रवृत्ति में उसका स्वतन्त्र उल्लेख है। वह इसलिए कि आत्मा की क्रमिक अवस्थाओं में प्रमाद के छूट जाने पर भी वह आगे तक विद्यमान रहता है। उसके सूक्ष्मांशों के प्रति सचेत हुए बिना साधक को पुनः नीचे लौटना पड़ता है। क्रोध, मान, माया और लोभ–ये कषाय के मुख्य अंग है। आत्मा क शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि में ये बाधक हैं।

प्रवृत्ति का पांचवां प्रकार है–योग। योग का अर्थ है–मन, वाणी और काया की चंचलता। मनुष्य का बाहरी रूप जो दिखाई देता है, वह सिर्फ बाहरी नहीं है। भीतर का प्रतिबिम्ब है। भीतर घटना घटित होती है और बाहर उसका विस्तार हो जाता है। मिथ्यात्व आदि आन्तरिक और सूक्ष्म वृत्तियां हैं। सागर में बुदबुदे की भांति ये भीतरी मन में उठती हैं और बाहर आकर फूट जाती है। मन सूक्ष्म योग है,

वाणी स्थूल और काया स्थूलतम। वाणी और शरीर कार्य है, मन कारण है। और भी गहराई से देखा जाए तो मन भी कार्य है क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है। उसमें भी जो स्पंदन होता है, उसका स्रोत अन्यत्र है। समस्त प्रवृत्तियों का मूल कारण है–कार्मण शरीर–सूक्ष्म शरीर। मिथ्यात्व आदि प्रवृत्तियों का स्रोत है वह। कर्म से प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से क्रिया, क्रिया से फिर कर्म–योग पुद्‌गलों का ग्रहण। इस दुश्चक्र से मुक्त होने के लिए निवृत्ति का दर्शन है।

साधना का पहला सूत्र है–दृष्टिकोण का सम्यक् होना। यह प्राप्त हुए बिना साधना के पथ पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। इसीलिए महावीर कहते हैं–पहला चरण है सम्यक् दर्शन, दूसरा है विरति, तीसरा है अप्रमाद, चौथा है अकषाय और पांचवां या अन्तिम चरण है अयोग–सम्पूर्ण निवृत्ति।

मुक्ति का पहला चरण है–सम्यक्‌दर्शन की प्राप्ति। तत्त्व को सही जानना, स्वीकार करना। यह ज्ञानगत या बौद्धिक सम्यक्‌दर्शन है। चेतना का ऊर्ध्वारोहण तभी होता है जब आत्मा सम्यग् दर्शन से प्रकाशित हो जाती है, तर–बतर हो जाती है। केवल बौद्धिक सम्यक्‌दर्शन का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा जब आर्द्र होती है तब अगले चरण सहज बन जाते हैं। प्राणी एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय हो जाए, फिर भी अज्ञान–जन्य मिथ्यात्व से छूट जाना सहज नहीं होता। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति फिर भी सुलभ नहीं होती। कुछेक आत्माएं ही इस उपलब्धि को प्राप्त कर अपना मोक्ष साधती हैं।

जैसे ही व्यक्ति में सम्यक्त्व की चेतना जागती है, उसमें बाहर का आकर्षण स्वतः शांत हो जाता है। वह व्यक्ति फिर साधना के दूसरे सूत्र–विरति को हस्तगत कर लेता है। वह तब 'स्व' के प्रति आकृष्ट होता है और 'पर' से विरक्त होता जाता है। वह तब जान लेता है कि मेरा मेरा है। जो मेरा नहीं है वह पहले भी मेरा नहीं था, अब भी मेरा नहीं है और भविष्य में भी मेरा नहीं हो सकेगा। मैं क्यों

उसके प्रति आकृष्ट होऊं ? पदार्थो के प्रति अनासक्ति विरति है और आसक्ति अविरति है।

आज प्रत्येक व्यक्ति के भीतर पदार्थो के प्रति गहरा आकर्षण छिपा पड़ा हैं । यदि व्यक्ति के मन में पदार्थो के प्रति अनाकर्षण होता तो उसका जीवन दूसरे प्रकार का ही होता। आदमी में अन्यान्य पदार्थो के प्रति आकर्षण है। धन, मकान, परिवार आदि–आदि में आकर्षण है। पर उसका सबसे बड़ा आकर्षण का केन्द्र है–स्वः–शरीर। इसमें सबसे गहरी आसक्ति होती है।

एक गुरु जापान गए। वहां के शिष्यों ने उनका भव्य स्वागत किया। अचानक एक दिन भूकम्प आया। शिष्य घबराए। वे मकान छोड़कर भाग गये। गुरु उसी मकान में बैठे रहे। भूकम्प शान्त हुआ। शिष्यों ने आकर देखा, गुरु शांत बैठे हैं, निश्चल और मुसकराते हुए। शिष्य बोले–गुरुदेव ! भूकम्प आया और आप यहीं बैठे रहे ? गुरु बोले–कहां जाता भागकर। मरना होता तो बाहर भागकर भी मर सकता था और नहीं मरना था तो यहां भी कुछ नहीं हुआ। मैं तो अपने आप में ठहरा हुआ था। मुझे कहीं जाने की जरूरत नहीं थी। तुम अपने से बाहर थे, इसलिए तुमको बाहर भागना पड़ा। सन्त विदेह थे।

महावीर का देह के प्रति आकर्षण मिट चुका था। वे सदेह अवस्था में भी विदेह हो गये थे। अन्यथा वे अन्यान्य मार्गो के होते हुए भी उसी मार्ग पर चलने के लिए कृतप्रतिज्ञ नहीं होते, जिस मार्ग पर चंडकौशिक विषधर था। वे सांप के निवास स्थल पर खड़े हो गए सांप ने देखा, फूंकार किया और अपने दांतों से काटा भी। महावीर शांत थे। महावीर बोले–विषधर ! जागो। अपने आपको संभालो, देखो। पूर्वजन्म में क्या किया था? आज क्या कर रहे हो? महावीर के सम्बोधन से भयंकर विषधर जाग गया। जागृति भी ऐसी आई कि वह कल्याणकारी चिन्तन में लग गया।

जब जागरण होता है तब आत्मा का उत्थान होता है, विकास

होता है। शरीर की आसक्ति एक जन्म की नहीं, अनन्त–अनन्त जन्मों की है। इसीलिए यह अत्यन्त सूक्ष्म, किन्तु गहरा बन्धन है। जब आदमी में भेदविज्ञान का जन्म हो जाता है, तब वह जान जाता है कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है। तब ग्रन्थिभेद होता है, मोह और ममत्व की गांठ खुलती है और शरीर का ममत्व टूटने लगता है। एकाग्र होने पर आदमी देख लेता है कि यह रही आत्मा और यह रहा शरीर। जब शरीर के प्रति ममत्व नहीं रहता तब अन्यान्य पदार्थो के प्रति आसक्ति हो नहीं सकती। संसार रहेगा, परिवार और धन रहेगा, पर आसक्ति नहीं रहेगी, मेरापन छूट जायेगा।

साधना का तीसरा सूत्र है–अप्रमाद। इसका अर्थ है–जागरूकता। आत्मा और अस्तित्व के प्रति जागृत रहना अप्रमाद की अवस्था है। क्षण भर के लिए भी अस्तित्व की विस्मृति न होना अप्रमाद है। अपने स्वरूप के प्रति अनुत्साह प्रमाद है और उत्साह अप्रमाद है। सारा जगत् प्रमाद के क्षणों में जी रहा है। प्रमाद की श्रृंखला लम्बी है । उसके परिणामों की श्रृंखला भी कम लम्बी नहीं है। तनाव उसी की देन है।

एक बार नेहरूजी तनावग्रस्त थे। उन्हें नींद ठीक तरह से नहीं आती थी। वे आनन्दमयी मां के पास गए। उनसे तनाव–मुक्ति का उपाय पूछा। उसने कहा–सब कुछ आप अपने पास रखें। एक अखण्ड क्षण आप मुझे दे। उस क्षण में आप यह भूल जाएं कि आप भारत के प्रधानमन्त्री हैं। यह भी भूल जाएं कि आप पंडित नेहरू हैं। सब कुछ भूल जाएं क्षणभर के लिए। आप तनाव से मुक्त हो जाएंगे।

यदि हम क्षणभर भी चेतना की सन्निधि में रहते हैं तो वह क्षण अप्रमाद का होता है, तनावमुक्ति का होता है। वह क्षण सारे जीवन में परिवर्तन घटित कर सकता है। जीवन उससे कृतकृत्य हो सकता है।

बाहर की उत्सुकता को समाप्त कर भीतर में उत्सुक बने रहना अप्रमाद है। बाहर देखना प्रमाद है और भीतर झांकना अप्रमाद है।

प्रमाद दुःख है, अप्रमाद आनन्द है।

साधना का चौथा सूत्र है–अकषाय। कषाय आत्मवृत्तियों को उत्तेजित करता है। जैसे आग पर पानी उबलता रहता है, वैसे ही कषाय की आग से वृत्तियां उत्तेजित होती रहती हैं। जैसे पानी के नीचे से आग हटा देने पर पानी ठंडा हो जाता है, उसी प्रकार कषाय की अग्नि शांत होने पर आत्मा की उत्तप्तता मिट जाती है। अप्रमत्त अवस्था अकषाय की स्थिति का भान करा देती है। जब अकषाय की स्थिति प्राप्त हो जाती है तब साधक के सारे दोष धुल जाते हैं और वह वीतराग अवस्था में चला जाता है।

साधना का पांचवां सूत्र है–अयोग। इस अवस्था में मन, वाणी और शरीर की सारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है। जब पूर्ण निरोध होता है तब आत्मा मुक्त हो जाती है। यही मोक्ष है।

मेघ ने महावीर से पूछा था–बन्धन क्या है ? मुक्ति क्या है ? बन्धन के साधन क्या है ? मोक्ष के साधन क्या हैं ? महावीर ने मेघ की जिज्ञासा को शान्त करते हुए संक्षेप में बताया कि रत्नत्रयी सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्–चारित्र की साधना बंधनमुक्ति की साधना है। रत्नत्रयी आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सही जानना, सही देखना और सही आचरण करना–यही महान् साधना है। साधना के सारे शेष प्रकार इसी रत्नत्रयी की परिक्रमा करते हैं। इस रत्नत्रयी की साधना से प्रमाद नष्ट होगा, कषाय नष्ट होंगे और सारे विजातीय तत्त्वों से छुटकारा मिलेगा। पहले हम शुभ प्रवृत्ति के द्वारा अशुभ को नष्ट करते जाएंगे और एक क्षण आएगा कि हम निरोध करते–करते अशुभ का भी निरोध कर लेंगे, उससे भी छुटकारा पा लेंगे। अयोगी बन जाएंगे, आत्मस्थ बन जाएंगे, अपने आप में ठहर जाएंगे।

अन्त में मेघ कहता है–

**भद्रं भद्रं तीर्थनाथ ! तीर्थे नीतोस्म्यहं त्वया ।**
**भावितात्मा स्थितात्मा च, त्वया जातोऽस्मि सम्प्रति ।।** ८/२७

– भगवान् ! मैंने जान लिया। बहुत अच्छा हुआ कि मैं आपके सन्निकट आ गया। अब मैं भावितात्मा और स्थितात्मा हो गया हूं। मैंने दुःख के कारण और उनसे छूटने का उपाय जान लिया है।

**नष्टो मोहो गतं क्लैब्यं, शुद्धा बुद्धिः स्थिरं मनः ।**
**पुनर्मौनं तवाभ्यर्णे स्वीचिकीर्षामि साम्प्रतम् ।। ८/२८**

– भगवन् ! आपके इस उपदेश से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मेरी बुद्धि स्थिर और शांत हो गई है। मेरी क्लीबता नष्ट हो गई है। मेरी शरीर के प्रति जो आसक्ति थी, वह टूट गई है। अब मैं आपसे उस चेतना के स्थिरीकरण के लिए पुनः उपदेश चाहता हूं। मैं पुनः श्रामण्य में स्थिर होना चाहता हूं।

श्रामण्य के स्थिरत्व में सबसे बड़ा विघ्नकारक तत्त्व है–मिथ्यात्व। सब पापों में बड़ा पाप यही है। अन्य पाप इसी का परिवार है या इसी से निष्पन्न होते हैं। आत्म–द्रष्टाओं ने अपने शुद्ध दर्शन के अनन्तर जो देखा उन्हें यही सबका मूल दिखाई दिया। ''**मूलं छिन्धिं**'' मूल का उच्छेद करो। मिथ्यात्व–मूल है तो सब है और मूल नहीं है तो कुछ भी नहीं है। यह माया का आवरण है। इस आवरण को दूर खिसकाने की प्रेरणा सभी संतो ने दी है। भगवान महावीर मेघ को इसी माया के प्रति प्रतिबुद्ध कर रहें हैं।

# मृग-मरीचिका

आज के मनुष्य का समूचा जीवन मृग–मरीचिका में फंसा हुआ है। यदि इसका यथार्थ अवबोध हो जाए तो सोया हुआ आदमी जाग जाता है। मृग–मरीचिका साहित्यिक शब्द है। अध्यात्म ग्रंथों में इसका प्रयोग माया के अर्थों में हुआ है। मृग–मरीचिका एक माया है। रण की भूमि सपाट होती है। कोसों तक गांव नहीं होते। 'कच्छ का रण' प्रसिद्ध है। सूर्य की किरणें जब वहां पड़ती हैं तब दूर से पानी के अस्तित्व का आभास होता है। लगता है मानो पानी से तालाब लबालब भरा हुआ है। वह पानी चमकता हुआ दिखाई देता है। प्यासा मृग जल की टोह में उस ओर दौड़ता है। वह वहां पहुंचता है जहां पहली दृष्टि में पानी देख रहा था। पर वह केवल तपती भूमि दिखाई देती है। आगे देखता है तब उसे उसी प्रकार जल दिखाई देता है और वह उसी ओर तेजी  तेजी से भागता है। पर वहां भी पानी नहीं मिलता। इस प्रकार पानी के आभास–स्थल की ओर भागते–भागते वह अपने प्राण गंवा देता है। यह है मृग–मरीचिका। इसका तात्पर्य है–यथार्थ नहीं, केवल यथार्थ का आभास देने वाली वृत्ति।

अध्यात्म में इसे माया कहते हैं और पतंजलि ने इसे विपर्यय कहा है। हम इसे मिथ्याज्ञान भी कह सकते हैं। **अतद्‌रूपं तद् इव आभासत**–जो जैसा नहीं है, वैसा दिखाई देना विपर्यय है, मिथ्याज्ञान हैं । बालू में सीपियां पड़ी रहती हैं। सूर्य के आतप से वे चांदी की भांति चमकने लगती हैं। मनुष्य उन्हें चांदी के टुकड़े मान लेता है। अंधेरे में रस्सी को सांप मान लिया जाता है। यह मिथ्याज्ञान है, विपर्यय है।

कबीर कहते हैं–माया महा ठगिनी हम जानी–माया बड़ी ठगोरी

है। इसने समूचे विश्व को ठगा है। राम स्वर्णमृग को देखकर भ्रान्त हो गए, ठगे गए। यह माया ही थी। कृष्ण कहते हैं–**मम माया दुरत्यया**–माया का अतिक्रमण करना कठिन होता है। माया से पार पाने वाले व्यक्ति इस संसार में विरले ही होते हैं। दुर्गा सप्तशती में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक है–

**ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा ।**
**बलादाकृष्य पोहेन, महामाया प्रयच्छति ।।**

माया के कारण महान ज्ञानिजनों का मन भी मूढ़ बन जाता है। यह दैवी माया बलात् उनको अपनी ओर खीच लेती हैं।

संत सनातनदेवजी महात्मा भूरीबाई के पास आए। उन्होंने सुन रखा था कि भूरीबाई बहुत दिनों तक समाधि में रह जाती है। वे कुछ जिज्ञासा लेकर आए। उन्होंने देखा, भूरीबाई न प्रवचन करती हैं, न कुछ बताती है और न कुछ कहती है। सन्त उससे बात करना चाहते थे। वे बहाना ढूंढ़ रहे थे। उन्हें बहाना मिल गया। उन्होंने भूरीबाई से पूछा–आत्मन् ! दुर्गा सप्तशती में एक श्लोक है। उसका शब्दार्थ है कि माया ज्ञानिजनों को भी अपनी ओर खींच लेती है। मैं इसका तात्पर्य नहीं समझ सका। आप मुझे बताएं। भूरीबाई बोली–आप ही हमें कुछ बताएं। संत ने कहा कि मैं तो आपके पास से कुछ लेने के लिए आया हूं। आपकी इच्छा हो तो कुछ प्रसाद दें, अन्यथा आपकी इच्छा।

जो लेने के लिए आता है, वह कुछ देता नहीं है और जो देने के लिए आता है, वह कुछ लेता नहीं।

भूरीबाई बोली–संतजी ! ज्ञानियों में भी कुछ रह जाता है। जिसके कारण वे माया के खिंचाव में आ जाते हैं। उनमें थोड़ा–सा अहं बच जाता है। उस अहं के कारण माया अपने जाल में उन्हें फंसा देती है और वे नीचे गिर पड़ते हैं। संत संकेत में सब समझ गए।

अहंकार माया है। इसके हटने से दृष्टि खुल जाती है और फिर रास्ता साफ हो जाता है।

भरत चक्रवर्ती छह खण्डों पर विजय पाकर आगे बढ़ रहा था। तमिस्रा गुफा का स्थान आया। वहां से आगे बढ़ने वाले को पहले अपना नाम वहां अंकित कर आगे बढ़ना होता था। भरत का मन अहंकार से भरा हुआ था। उसने सोचा – मैं पहला व्यक्ति हूं जो विजयध्वज लहराता हुआ यहां पहुंचा हूं। मैं अपना नाम बड़े अक्षरों में लिखूंगा। वह भीतर गया। एक पट्ट पर देखा तो उसे नाम ही नाम अंकित दिखाई दिये। उसने वहां के अधिकारी से पूछा–ये नाम किनके हैं ? अधिकारी बोले–आपसे पूर्व जो चक्रवर्ती हो चुके हैं, ये उनके नाम हैं। यह सुनते ही भरत की आंखें खुल गई। उसने सोचा–किसी एक का नाम मिटाकर ही मैं अपना नाम लिख पाऊंगा। मेरा नाम तो अंतिम पंक्ति में है आज। उसका अहं चूर–चूर हो गया। अंत में उसने अपना नाम यह सोचकर लिखा कि आगे होने वाला चक्रवर्ती मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिख देगा। भरत पर पड़ा माया का आवरण हट गया और फिर उसके जीवन में एक नया मोड़ आया। दृष्टि साफ हो गयी और वह नीर–कमलवत् जीवन जीने लगा।

माया के हट जाने पर आदमी कहीं रहे। कुछ भी करे। वह बंधेगा नहीं। वह निर्लिप्त रहेगा। फिर चाहे वह गृहस्थ रहे या मुनि बने। कोई अन्तर नहीं आएगा। यह जरूरी नहीं होगा कि भगवे कपड़े पहने जाएं या सफेद वस्त्र रखे जाएं। वहां तो जरूरी इतना ही होता है कि भीतर में जो सोया पड़ा है, उसे जगा दिया जाए और माया के टूटने पर वह जाग ही जाता है।

मृग–मरीचिका महामाया है। इसका पर्दा सघन है। अतीत में यह पर्दा था, आज है और भविष्य में भी रहेगा। जिन साधकों ने इसे हटाना चाहा वे इसे हटा पाए। आज भी जो इससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हैं वे इससे दूर हो जाते हैं और भविष्य में जो इसको तोड़ने का प्रयास करेंगे वे भी सफल होंगे।

मृग–मरीचिका मिथ्याज्ञान है। यह आत्मगुण का आवारक दोष

है। महावीर कहते हैं–तीव्र मोह के उदय से जिसकी आत्मा विमूढ़ हो जाती है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

मोह आत्मा को विमूढ़ किए रखता है। विमूढ़ व्यक्ति न सम्यक् देखता है, न सम्यक् जानता है और न सम्यक् आचरण करता है। वह विभाव को अपना मानता है और वहीं चिपका रहता है। स्वभाव की ओर उसकी दृष्टि स्फुरित नहीं होती। यही माया है, मृग–मरीचिका है।

इसीलिए महावीर सबसे अधिक बल सम्यक्–दर्शन पर देते हैं। वे कहते हैं–अन्यान्य बातों को छोड़ो। सबसे पहले दृष्टिकोण को सही बनाओ। सम्यक्–दर्शन प्राप्त करो। जो है उसे वैसा जानो, देखो। तब तुम्हें जो है वह 'है' दिखाई देगा और जो नहीं है वह 'नहीं' दिखाई देगा, माया नहीं रहेगी, मृग–मरीचिका नहीं रहेगी। ऐसे व्यक्ति को माया नहीं फंसा पाएगी।

माया से बचने का पहला सूत्र है सम्यक् दर्शन, दूसरा है–सम्यक् ज्ञान और तीसरा है सम्यक् आचरण। यह त्रिपदी मोक्षपदी है। यह किसी एक की बपौती नहीं है। यह चेतना का स्वभाव है। चेतना अखण्ड और अविभाजित है।

**''असतो मा सद्गमय''**–अयथार्थ से मुझे यथार्थ की ओर ले चलो । यह औपनिषदिक ऋषियों का सूत्र जिसके हृदय में स्थापित हो जाता है, वह माया का पार पा जाता है। महावीर की त्रिपदी, बुद्ध का 'सम्मादिट्ठी' आर्यसत्य और उपनिषद् का यह संकल्प–सूत्र–तीनों एक ही पथ के पथिक हैं।

आदमी की जिन्दगी का पूरा का पूरा भाग इस माया–मृग–मरीचिका में बीतता है, आभासों में बीतता है, मिथ्या आरोपण में बीतता है। एक जीवन नहीं, अनन्त जीवन इसी माया में बीते हैं। फिर भी आदमी माया में ही सुख मानकर जी रहा है। वह जागता ही नहीं है। जागने का क्षण आता है और वह आंख मूंद लेता है। आदमी अनन्त जन्मों के स्वाद का आनन्द लेता रहा है और आज भी उसी स्वाद में आनन्द

ले रहा है। आज तक वह उससे तृप्त नहीं हुआ। बल्कि उसकी अतृप्ति बढ़ती गयी। जन्म-जन्म से आदमी कामवासना को तृप्त करता रहा है। पर आज भी वह उतना ही कामुक है, तृप्त नहीं हो पाया है। इन्द्रियों के सभी विषयों के सेवन की यही कहानी है। विषयोपभोग से तृप्ति नहीं होती है। तृप्ति आती है विषयातीत होने पर। आदमी बूढ़ा हो जाता है, शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, पर वासना न बूढ़ी होती है, न जीर्ण-शीर्ण होती है। वह सदा जवान रहती है, सदाबहार रहती है। इसीलिए मरकर जन्म लेना पड़ता है। तब तक वासना नहीं मिटेगी, जन्म-मरण का चक्र नहीं टूटेगा।

माया के तीन रूप हैं-सत्ता, संपत्ति और भोग। आदमी इन तीनों में अंधा बन जाता है। कुछ लोग कहते हैं, मनुष्य-जीवन मिला है, जितना भोग सको, भोग लो। अन्यान्य योनियों में यह दुर्लभ है। ऐसे व्यक्ति अल्पलाभ के लिए बहुत को खो देते हैं। उनकी शक्ति क्षीण हो जाती हैं। वे रिक्त हो जाते हैं। उनका ईश्वरीय तत्त्व चूक जाता हैं। फिर वे कभी ध्यानस्थ नहीं हो सकते, समाधि में नहीं जा सकते। जिन्होंने खो दिया, जिनके पास कुछ बचा ही नहीं, वे अध्यात्म में अपनी शक्ति का कैसे विस्फोट कर पायेंगे ! वह व्यक्ति प्रकाश का दर्शन कैसे कर पाएगा जिसने अपने भीतर के प्रभु की हत्या कर डाली है ! भीतर बैठा वह ईश्वर ही वीर्य के रूप में सामने आता है और उसको कामवासना की माया में लुटा दिया जाता है। कितनी मूर्खता ? ऋषियों ने गाया-वीर्य ईश्वर है। इसे लुटाओ मत । इसको धारण करो। इसको संगृहीत करो।

सुकरात से कामवासना के संयम के विषय में पूछा गया तो वे बोले-आजीवन भोग से विरक्त रहो। यदि न रह सको तो जीवन में एक बार भोग करो। इससे भी न रह सको तो वर्ष में एक बार, यदि वह भी संभव न हो तो महीने में एक बार और यदि वह भी कठिन हो तो एक कफन खरीद लो और उसे अपने सिरहाने रखकर सो जाओ, जिससे कि मरने पर कफन के लिए कहीं जाना न पड़े।

माया महा ठगौरी–इसे याद रखना चाहिए। यदि आप चाहते हैं कि माया का आवरण हटे, जीवन मृग–मरीचिका से ऊपर उठकर वरदान बने, तो कुछ प्रयत्न करना चाहिए। जीवन को वरदान बनाना अपने हाथ में है। उसे वरदान बनने में एक क्षणमात्र लगेगा। अंधकार कितना ही पुराना हो, कितना ही सघन हो, प्रकाश की एक नन्ही–सी किरण उसे नष्ट कर देती है। इसी प्रकार अनन्त–अनन्त जन्मों की यह मृग–मरीचिका, यह विपर्यय, यह मिथ्याज्ञान, यह मिथ्या दृष्टिकोण, यह माया क्षण–भर में नष्ट हो सकती है। आप अपने भीतर सम्यक् दर्शन का दीया जलाएं, सम्यक् दृष्टि का प्रकाश प्राप्त करें। उसके आते ही माया का आवरण छिन्न–भिन्न होता नजर आएगा।

आदमी क्षण–क्षण माया में जीता है। फिर भी उसे पहचान नहीं पाता, या यों कहें कि उसे जानकर भी अजाना–सा रहता है। यह सबसे बड़ा आश्चर्य है। आप अनुभव करें, आदमी कहता है, यह मेरा नाम है। क्या यह माया नहीं है ? बच्चा गर्भ में होता है, तब क्या उसका नाम होता है ? गर्भ से निकलता है और हम उसे एक नाम दे देते हैं। क्या मरने के बाद जब वह अन्यत्र जन्म लेगा तब वह इसी नाम से पहचाना जाएगा। जहां कहीं जाएगा क्या यह नाम साथ जाएगा ? कितने नाम उसने बदल लिये। अनन्त जन्मों में उसके अनन्त नाम हो गए होंगे, फिर भी वह अपने नाम की माया में विमूढ़ हो रहा है। वह कहता है–जो नाम है वह मैं हूं और जो मैं हूं वह मेरा नाम है। कहां तुम आत्मा और कहां नाम माया ! तुम्हारे और नाम के बीच में असीम फासला है, दूरी है, अलगाव है। फिर भी मूढ़ता के कारण, मिथ्याज्ञान के कारण स्व और नाम में एकत्व मान लिया जाता है। यही मृग मरीचिका है।

शरीर के साथ भी हम मृग–मरीचिका को पाल रहे हैं। आप यहां आए हैं एक शरीर को छोडकर। आप यहां से जाएंगे इस शरीर को छोडकर। अतीत में भी शरीर था, वर्तमान में भी शरीर है और भविष्य में भी शरीर रहेगा। फिर शरीर के साथ कैसी आसक्ति ! पर आदमी

मान लेता है, यह शरीर मेरा है, जो शरीर है वह मैं हूं और जो मैं हूं वह शरीर है। यह माया है। क्या इस माया से मुक्त होना चाहते हैं आप ?

इसी प्रकार मेरा बेटा, मेरी पत्नी, मेरा घर, मेरा बैंक बैलेन्स–ये सारे माया के अंग हैं। आदमी इनमें फंसने के बाद बाहर निकल नहीं पाता। साधु ने एक व्यक्ति से कहा – सेठजी ! अब तो साठ पार कर गए। कुछ धर्म–ध्यान में मन लगाओ। सेठ बोला–महाराज ! पांच लड़कों को ब्याह चुका हूं। छठे लड़के की शादी को निपटाकर घर–गृहस्थी से मुक्त हो जाऊंगा। लड़के का विवाह हो गया। मुनि ने फिर पूछा। सेठ बोला– महाराज ! पौत्र का मुंह देख लूं, फिर झंझट से छूट जाऊंगा। माया आगे पसार पाती गई। पौत्र का जन्म हुआ। मुनि ने फिर पूछा। सेठ ने कहा–महाराज ! इस संसार में ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति कम होते हैं जो अपने हाथों पौत्र का विवाह कर प्रपौत्र का मुंह देखें। मेरी बस एक ही तमन्ना शेष रही है। फिर सब कुछ छोड़कर एकान्त में जाकर भगवद्–भजन करूंगा, 'न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी।'

माया देवी ने एक जाल ऐसा फेंका है कि आदमी युग–युगान्तर से उसमें बंधा हुआ जी रहा है। वह जाल है–आदमी अपने आपको भूल गया। उसको और सब याद है, पर स्वयं की विस्मृति इतनी गहरी हो गई है कि उसे तोड़ पाना सरल नहीं है।

दस मित्र पदयात्रा पर निकले। एक नदी आयी। सब तैरना जानते थे। नदी में उतरने से पूर्व गिनती कर ली ताकि गड़बड़ी न हो। तैरकर उस तट तक पहुंच गए। साथियों को गिना तो गिनती नौ तक ही आयी। सबने बारी–बारी से गिना। गिनती नौ से आगे नहीं सरकी। सबने सोचा कि एक साथी नदी में डूबकर मर गया है। सभी रोने लगे। नदी पर एक व्यक्ति स्नान करने आया। विलाप करते देख उसने रोने का कारण पूछा। कारण जानकर उसने गिनती की। आदमी दस सामने खड़े थे। उसने कहा–दस चले थे, दस ही

यहां हैं। उन्होंने कहा–नहीं, हम नौ ही यहां है। हम सबने गिना है। नौ की संख्या ही आती है। तब उस व्यक्ति ने सबको पंक्ति में खड़ा कर एक–एक के चांटा मारते हुए गिनना प्रारम्भ किया। दस थे, दस निकले। हुआ यह था कि गिनने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने दूसरों को गिना स्वयं को गिना ही नहीं। यह स्वयं की विस्मृति उनके रुदन का कारण बनी।

आज की समस्या अपने को भूल जाने की समस्या है। अपने को नहीं गिना जा रहा है। अपने अस्तित्व का बोध नहीं किया जा रहा है। सभी पापों की जड़ है स्वयं की विस्मृति। सबसे बड़ा पाप है अपने आपको भूल जाना। सबसे बड़ा धर्म है–अपने आपको याद रखना। अस्तित्व की स्मृति हो जाने के पश्चात् व्यक्ति को यह स्पष्ट अनुभव होता है कि मेरे भीतर जो है, वही मेरा है। इसके अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। सब माया है, मिथ्या है, मृग–मरीचिका है।

इस माया को दूर करने का, अंधकार को मिटाने का एकमात्र उपाय है–सम्यक्दर्शन। इसकी प्राप्ति के दो घटक हैं–श्रवण और अभ्यास। अभ्यास है प्रत्यक्ष अनुभव। हम जानते बहुत हैं पर अनुभव हमें नहीं है। सब कहते हैं–मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है। पर यह केवल सुना हुआ ज्ञान है, मौखिक है। अनुभवात्मक ज्ञान नहीं है। यह उधार लिया हुआ ज्ञान है। शास्त्रों का ज्ञान है। सम्यक् ज्ञान वह होता है, जो अनुभूत है, जिसका व्यक्ति ने अभ्यास कर अनुभव प्राप्त कर लिया है। जब हमें यथार्थ का और अयथार्थ का सही ज्ञान हो जाएगा तब सम्यक्दर्शन उदित होगा। हम यह प्रतिदिन देखते हैं कि जब आदमी सोता है तब उसके लिए सारा संसार लुप्त हो जाता है और जब वह जागता है तो सारा संसार उठ खड़ा होता है। यही माया है। माया को सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण पर्याप्त है। यदि यह संसार यथार्थ होता तो वह जागरण और सुषुप्ति–दोनों अवस्थाओं में एक–सा रहता। इसी प्रकार जब व्यक्ति सम्यक्दर्शन की अवस्था में आता है तब उसे चेतना की अवस्थिति के सिवाय कुछ भी ज्ञान नहीं

रहता। यही यथार्थ बोध है, यथार्थ स्थिति है। उस चेतना का नाम–रूप नहीं है। उसे न हम राम कह सकते हैं, न कृष्ण कह सकते हैं, न महावीर और न बुद्ध कह सकते हैं। उस समय वह सभी उपाधियों से मुक्त होती है। वह निरूपाधिक अवस्था ही जीवन के लिए वरदान है। इसी अवस्था में अज्ञान का अंधकार नष्ट हो सकता है। हम सोपाधिक अवस्था में हैं। इसीलिए माया से घिरे हुए हैं। यह सुषुप्ति की अवस्था है, नींद की अवस्था है। नींद में यथार्थ का भान नहीं होता। वहां 'मेरा'– 'तेरा' भी मिट जाता है। पर जब महासुषुप्ति अर्थात् मौत आती है तब सदा के लिए आंखें बन्द हो जाती हैं और तब अपना कुछ नहीं बचता। सब यहीं दूसरों के लिए रह जाता है। आंख एक बच्चे की भी बन्द होती है और एक बूढ़े की भी। मौत के लिए ये अवस्थाएं अगम्य नहीं हैं। मौत जब आती है और व्यक्ति को लगता है कि वह यहां से उठ जाने वाला है, तब उसे कुछ–कुछ यथार्थ का भान होता है और उसका मोह–वलय टूटता है। संसार में रहना है, जीना है, यह वास्तविकता है। पर इस प्रकार से जीया जाए कि संसार को संसार मानते रहें, अशाश्वत को अशाश्वत मानते रहें, संयोग को वियोग के साथ देखते रहें तो यह जीना एक वरदान बन सकता है।

शिष्य ने गुरु से पूछा–आप कोई ऐसा सूत्र दें, जिससे मेरा जीवन वरदान बन जाए। गुरु ने कहा–पानी पर चलो, पर खयाल रहे कि पानी पैर को न छू पाए। यह जीने का सूत्र है। संसार में रहो पर उससे चिपको मत।

यह अनूठा सूत्र है। यह एक सूत्र ही जीवन में निखार ला देता है। इसके योग से जीवन इतना सुखमय, इतना आनन्दमय बन जाता है कि फिर दुःख का झोंका आता ही नहीं।

दूसरा सूत्र है–परम सत्ता के प्रति समर्पित हो जाना। जैसा होता है, उसे सहर्ष स्वीकार कर प्रसन्न रहने का अभ्यास करना ही परम सत्ता के प्रति समर्पित होना है। श्रीकृष्ण कहते हैं अर्जुन को–**मामेकं**

**शरणं व्रज**–तू मेरी शरण में आ जा, पूर्ण समर्पण की बात न कहकर सार्वभौम सत्ता के प्रति समर्पित होने की बात कहते हैं। वे मेघ से कह रहे हैं–**धम्मां सरणं पवज्जाहि**–मेघ ! तुम अपने जीवन को धर्म के प्रति समर्पित कर दो, धर्म की शरण में चले जाना, अपने स्वभाव में चले जाना। यह साधना का सूत्र है और मृग–मरीचिका को साधना से ही निरस्त किया जा सकता है।

समर्पण ऐसे ही नहीं आ जाता। केवल शब्दों को रटने या दोहराने से समर्पण नहीं आता। उसके लिए इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करना होता है। जब उपास्य और उपासक, सिद्ध और साधक एक होते हैं तब वास्तविक समर्पण सधता है।

संध्या का समय था। बादशाह अकबर अपने कक्ष में अकेले थे। नमाज का समय हुआ। वे ऊपर से आने वाली सीढ़ियों के पास वाले रिक्त स्थान में नमाज पढ़ने लगे। उनकी दासी 'तूती' अपने यार से मिलने निकली थी। वह अपने यार में तन्मय थी। ऊपर से वह आयी। कुछ पता नहीं चला और बादशाह पर पैर रखकर आगे बढ़ गई। बादशाह ने देखा और तत्काल वे बोले–

**तूती चुगे तो ऊंच चुग, नीच चुगण मत जाय ।**
**तू तूती पतशाह की, लजे अकबर शाह ।।**

यह सुनकर वह चौंकी। उसका मन अन्यत्र था। कौन है ? क्या है ? इससे उसको क्या लेना था ? उसने गौर से देखा । कोई नमाज पढ़ रहा है, पर मन नमाज में नहीं है। अन्यथा उसे पता कैसे चलता ? उसने भी नहले पर देहले देते हुए कहा–

**मैं नर राची नां लख्यो, तू कित लख्यो सुजान ?**
**पढ़ कुरान खोटी भयो, नहीं राच्यो रहमान ।।**

बादशाह ने सुना। अज्ञान मिटा। आंखें खुल गई। दृष्टि मिल गई। वह बोला–तू मेरा गुरु है। मैं भटक रहा था। तूने मुझे रास्ता

दे दिया। जैसे तेरा ध्यान उसमें (यार में) है, वैसे ही मेरा ध्यान उसमें (रहमान में) होना चाहिए था। ऐसा होता है समर्पण।

इस लंबी चर्चा का सार संक्षेप यही है कि हमें मृग–मरीचिका से छुटकारा पाने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। हम अपने इस दिव्य और देव–दुर्लभ जीवन को वरदान बनाएं और पग–पग पर आनन्द का अनुभव करें। ध्यान इसके लिए परम औषधि हैं। जो व्यक्ति सब कुछ खोकर भी ध्यान की क्षमता को पा लेता है तो वह सब कुछ पा लेता है और सब कुछ पाकर भी यदि ध्यान को खो दिया तो सब कुछ खो दिया। पानी में रहकर भी कमलवत् पानी से निर्लिप्त रहने की कला ध्यान से ही प्राप्त हो सकती है।

महावीर कह रहे हैं–मेघ ! तुम बार–बार इन बिन्दुओं पर ध्यान दो–

- जो अपना है ही नहीं, उसमें अपनेपन की बुद्धि, अयथार्थ में यथार्थ और यथार्थ में अयथार्थ की बुद्धि–यह है मिथ्यादर्शन।
- जो वास्तविक है उससे जुड़े रहना, उसके निकट रहना –यह है सम्यक्–दर्शन।
- इष्ट के साथ तादात्म्य, आत्मा के साथ, एकत्व की अनुभूति–यह है । समर्पण।

## नाणं पयासयरं

आचार्य समंतभद्र ने धर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है–"**सद्दर्शनज्ञान-वृत्तानि, धर्म धर्मेश्वरा विदुः**–धर्म है सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। धर्मविदों ने इस रत्नमयी को ही धर्म कहा है।

ज्ञान प्रत्येक प्राणी में होता है। ऐसा एक भी प्राणी नहीं है जिसमें थोड़ा या अधिक ज्ञान न हो। चैतन्य का यही विकास–बिन्दु जीव और अजीव, जड़ और चेतन की अलग पहचान देता है। महावीर ने जब कहा–**नाणं पयासयरं**–ज्ञान आलोक देता है, तब मेघ के मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसने प्रश्न की भाषा में भगवान् से पूछा–

**ज्ञानं प्रकाशकं तत्र, मिथ्यासम्यक्त्वकल्पना ।**
**क्रियते कोऽत्र हेतुः स्याद्, बोद्धुमिच्छामि सम्प्रति ।। ६/१**

भगवन् ! आप कहते हैं–'ज्ञान प्रकाशक है' और साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि ज्ञान सम्यक् भी होता है और ज्ञान मिथ्या भी होता है। यह विचार जब सुना, तब मेरे मन में एक शंका उत्पन्न हुई कि ज्ञान सम्यक् और मिथ्या कैसे हो सकता है ?

भगवान् बोले–मेघ ! ज्ञान को मैंने इस दृष्टि से मिथ्या कहा है कि वह अभी तक पूर्णरूपेण प्रकट नहीं हुआ है। वह आच्छन्न है, आवरणों से ढका हुआ है। जैसे सूर्य जब बादलों से घिर जाता है तब उसका प्रकाश मंद, मंदतर हो जाता है, लेकिन कुछ–न–कुछ प्रकाश शेष रहता है, वैसे ही हमारी चेतना पर, आत्मा पर अनेक आवरण पड़े

हुए हैं। उन आवरणों के कारण चेतना का आलोक मन्द, मंदतर हो जाता है। जब चेतना की रश्मियां पूर्णरूप से बाहर नहीं आ पातीं तब आदमी का ज्ञान संशयशील बन जाता है, विपरीत बन जाता है। तत्त्व का निश्चय नहीं हो पाता, इसलिए उस ज्ञान को मिथ्या कहा है। संशयशील दशा में पदार्थ का यथार्थ निश्चय नहीं होता। उस दोलायमान अवस्था में जो भी जाना जाता है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं होता।

संशयज्ञान मिथ्या होता है। विपरीत ज्ञान मिथ्या होता है। अंधेरे में रस्सी को सांप समझ लेना या सांप को रस्सी मान लेना विपर्यय ज्ञान है। महावीर कहते है–जितना अज्ञान है, जितना आवृत है, वह सारा मिथ्या ज्ञान है।

हमें इसे दो दृष्टियों से समझना है। एक है दार्शनिक दृष्टि और दूसरी है आगमिक दृष्टि। दर्शनशास्त्र में यथार्थ ज्ञान को प्रमाण माना है। आदमी को आदमी के रूपमें जानना, बकरी को बकरी के रूप में जानना, चींटी को चींटी के रूप में जानना–यह यथार्थ ज्ञान है, प्रमाण है, व्यवहारिक ज्ञान है लेकिन आगमिक भाषा या तत्त्वविदों की भाषा कुछ दूसरी है। वे कहते हैं–पदार्थ–**ज्ञानमात्रेण न ज्ञानं सम्यक् भवेत्**–पदार्थो का सही ज्ञान होने मात्र से ज्ञान सम्यक् नहीं होता। जो दार्शनिक दृष्टि से यथार्थ ज्ञान है, वह आगमिक दृष्टि से यथार्थज्ञान नहीं है।

आगम की दृष्टि से मिथ्यात्वी का ज्ञान अज्ञान होता है। इसका कारण पात्रभेद है। मिथ्यात्वी व्यक्ति अपने विषय में तथा तत्त्व के विषय में पूर्ण असंदिग्ध नहीं होता। कहीं न कहीं वह संशयग्रस्त तथा भ्रान्त बना रहता है। इसलिए बाह्य दृष्टि से पदार्थो का यथार्थ ज्ञान रखता हुआ भी वह सम्यग्द्रष्टा नहीं कहलाता। सम्यग् दर्शन के आंशिक अभाव के कारण उसके ज्ञान को अज्ञान कहा है। यह आगमिक पुरुषों का कथन है।

यहां यह प्रश्न होता है कि फिर सम्यक् ज्ञान क्या है ? सम्यक्

दृष्टि क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है—आत्मलीनस्वभावं यत्, तज्ज्ञानं सम्यगुच्यते—वह ज्ञान सम्यक् है जिस ज्ञान की धारा अपने भीतर की ओर जाती है । इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो ज्ञान बहिर्मुखी है वह अज्ञान है, असम्यक् है और जो ज्ञान अन्तर्मुखी है वह ज्ञान सम्यक् है। जो ज्ञान केवल बाह्य पदार्थो को जानने में लगा रहता है, वह वीतराग की दृष्टि में असम्यक् है या अज्ञान है और जो ज्ञान आत्म—चैतन्य की ओर मुड़ा रहता है, वह ज्ञान सम्यक् है।

जो व्यक्ति सम्यक्ज्ञान से सम्पन्न होता है, वही सम्यक्दृष्टि कहलाता है। भगवान् कहते हैं—धुतमोहो निजं पश्यन्, सम्यग्दृष्टिरसौ भवेत्—सम्यक्द्रष्टा वह होता है जो दूसरों को नहीं, स्वयं को देखता है। जो मोह के परमाणुओं को प्रकम्पित कर अपने आपको देखने जानने में संलग्न है।

सम्यक्द्रष्टा की अवस्था भी कठिनाई से प्राप्त होती है। साधना का यह महत्त्वपूर्ण सोपान है। साधना का पहला काम है कि वह दूसरों को देखने में अंधा बन जाए। इस अंधेपन से ही सम्यक्दर्शन पैदा होता है। जब दृष्टि सम्यक् होगी तो ज्ञान भी सम्यक् होगा। सम्यक् दर्शन स्वयं को देखने की प्रक्रिया है। पूर्व और पश्चिम में यही अन्तर है। पूर्वीय दर्शनों में स्वयं को जानने—देखने की बात को प्रमुखता दी गई है। यही अध्यात्म का पथ है। पश्चिमी दर्शनों में दूसरों को जानने—देखने पर बल है। वे लोग दूसरों को—पदार्थो की सूक्ष्म छानबीन करने में जितने उत्सुक हैं, उतने स्व को जानने—देखने में उत्सुक नहीं हैं। आज भी यहां के लोगों में स्वयं को जानने के बीज विद्यमान हैं। यत्र—तत्र कोई—कोई साधक इस ओर प्रयत्नशील भी हैं। इस प्रयत्न की पृष्ठभूमि में अतीत के आत्मद्रष्टाओं का योगदान स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

पश्चिम ने दूसरों को जानने—देखने में प्रयत्न किया। उसका परिणाम है शस्त्रास्त्रों का निर्माण, यंत्रों का निर्माण। आज यंत्रों के

आविष्कार ने मनुष्य को बहुत पीछे धकेल डाला है। वहां केन्द्र में यन्त्र बैठा है और परिधि में मनुष्य है।

अभी–अभी एक भाई जापान से आया। वह बता रहा था कि वहां एक प्रदर्शनी लगी थी। उसमें विभिन्न प्रकार के यन्त्रों का दिग्दर्शन कराया गया था। वहां आसपास के होटल नवागंतुकों से भर गये थे। प्रतिदिन दो या तीन हजार रूपयों के किराये पर भी कमरे मिलने कठिन हो गए थे। प्रदर्शनी का मुख्य आकर्षण था–यन्त्र मानव–रोबट। वह यंत्रमानव ऐसे अनेक कार्य करता था, जो चेतना–वान् मनुष्य करता है। आगन्तुक से हाथ मिलाना, उसकी आवश्यकताओं की जानकारी करना, उसकी पूर्ति करना, प्रश्नों का उत्तर देना आदि–आदि सारे कार्य वह कर लेता था। यांत्रिक मस्तिष्क का यह अद्भुत विकास है और पश्चिमी जगत् इस ओर आगे से आगे बढ़ता चला जा रहा है। वह दिन दूर नहीं है, जब मनुष्य की उपयोगिता नष्ट हो जाएगी और यन्त्र उभरकर आगे स्थान पा लेगा। इतना होने पर भी पश्चिमी देश जितने 'अशांत और तनावग्रस्त हैं, उतनी अशांति और तनाव पूर्व में अभी नहीं हैं। ''अशांति का एकमात्र कारण है बहिर्मुखता और अशांति के अभाव का कारण है बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता में संतुलन।'' बहिर्मुखी व्यक्तियों के ज्ञान का विकास और अन्तर्मुखी व्यक्तियों के ज्ञान का विकास, भिन्न–भिन्न प्रकार से होता है। दोनों की दो दिशाएं होती हैं।

लिंकन अमेरिका के राष्ट्रपति बने। जब वे संसद में भाषण देने खड़े हुए तब विपक्ष के एक व्यक्ति ने खड़े होकर कहा–आपको ज्ञात होना चाहिए कि आप चमार जाति के हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति और जाति चमार ! यदि उस समय लिंकन के स्थान पर कोई दूसरा होता तो तत्काल आवेश में आ जाता। पर लिंकन शांत रहते हुए बोले–धन्यवाद ! आपने मुझे अपने पिता की स्मृति दिलायी। मेरे पिता अत्यन्त कुशल चमार थे। वे जूते गांठने में निपुण थे। उतना निपुण मैं नहीं हूं। किन्तु मेरे पिता के प्रति आपको कोई शिकायत हो तो मुझे

निःसंकोच बताएं। वह विपक्षी व्यक्ति पानी–पानी हो गया और शर्म से उसका मुंह झुक गया। विपक्षी व्यक्ति भी ज्ञानी था और लिंकन भी ज्ञानी था। पर दोनों के ज्ञान में, विचार में कितना बड़ा अन्तर था। एक व्यक्ति आरोप की भाषा में बोल रहा है और दूसरा मुस्कराकर उसकी भाषा को झेल रहा है। यही तो अन्तर है आन्तरिक ज्ञान और बहिर् ज्ञान में। कबीर कहते हैं–

**पंडित और मशालची, दोनूं सूझे नांय ।**
**औरन को करे चांदनी, आप अंधेरे मांय ।।**

पंडित ज्ञानी होता है, दूसरों को प्रकाश देता है। मशालची भी अपनी मशाल के द्वारा दूसरों को प्रकाशित करता है। कबीर कहते हैं–ये दोनों दूसरों को प्रकाश देते हैं, पर स्वयं अंधेरे में भटकते हैं। पंडित दूसरों को अच्छे से अच्छा उपदेश देता है, पर स्वयं अज्ञान में जीता है, अंधेरे में जीता है। केवल बौद्धिक ज्ञान में जीता है। अन्तरज्ञान उसका विकसित नहीं होता। उसके अभाव में उनका ज्ञान सम्यक् नहीं होता। इसीलिए महावीर कहते हैं–ज्ञान के आवरण को हटाओ। प्रत्येक व्यक्ति यह कार्य कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए विकास का द्वार खुला है।

महावीर ने आन्तरिक ज्ञान को जगाने का एक छोटा–सा सूत्र दिया है। वह सूत्र है–भावशुद्धि। भावों का परिष्कार होने पर ज्ञान का आवरण धीरे–धीरे टूटने लगता है। इसलिए भावधारा को निर्मल बनाना आवश्यक हो जाता है।

ज्ञान का काम है जानना। केवल पदार्थों को जानना, यह ज्ञान का मूलभूत उद्देश्य नहीं है। उसका मूल उद्देश्य है–स्वयं को जानना। इसीलिए सुकरात कहता है–**नो दी सेल्फ**–अपने आपको जानो। अपना ज्ञान करो कि मैं कौन हूं ? यही सम्यक् ज्ञान है।

स्वयं को जानने की चेष्टा कौन करता है ? लोग साधुओं के

पास आते हैं और पूछते हैं–आपका नाम क्या है ? आप कहां के हैं? आपकी जाति क्या है ? ये सब व्यर्थ प्रश्न हैं। पूछा जाना चाहिए, आप कहां तक पहुंचे हैं ? साधना का उपक्रम कैसा चल रहा है ? पर ऐसा पूछे कौन ? सब इसी स्तर पर खड़े हैं। साधु भी श्रावकों से नाम–ठांव ही तो पूछते हैं। पूछना चाहिए–क्या साधना चल रही है ? कषाय मंद हो रहे हैं या नहीं ? धर्म का स्वाद आ रहा है या नहीं ?

साधु और असाधु, साधक और असाधक आकृति या रूप–रंग से नहीं होते। उपक्रम के आधार पर पहचाना जा सकता है। जो स्वयं को जानने का अभ्यास करता है, वह है साधु, वह है साधक। जो स्वयं को पहचानने का उपक्रम नहीं करता, वह है असाधु, वह है असाधक। यह परिभाषा सार्वजनीन है। किसी संघ या संप्रदाय से आबद्ध नहीं है।

जैसे स्वयं को जानने वाला ज्ञान सम्यक् होता है वैसे ही स्वयं को देखने वाली दृष्टि सम्यक् होती है। यह आगमिक या अर्हतों की परिभाषा है। दार्शनिक परिभाषा है कि इन्द्रिय के द्वारा जो देखा जाता है वह यथार्थ दर्शन है। जो आंख देखती है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है ?

पर यह बाहर का दर्शन है, इसलिए सम्यक् दर्शन नहीं है। जब तक ज्ञान और दृष्टि दोनों अन्तर से नहीं जुड़ते तब तक वे चेतना को ऊर्ध्व नहीं कर सकते, चेतना को आलोकित नहीं कर सकते।

महावीर ने सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि को बहुत स्पष्टता से समझाया है। वे कहते हैं, यह मेरा ही अनुभव या प्रतिपादन नहीं है। सभी अर्हतों ने, जो अतीत में हो चुके हैं, सभी ने यही कहा है। साधना–क्षेत्र के अनुभव भिन्न–भिन्न नहीं होते। मोक्ष की अनुभूति अलग–अलग नहीं होती। महावीर, बुद्ध, लाओत्से, नानक और कबीर–सभी का अध्यात्म–अनुभव समान था। कहने का या प्रतिपादन का अन्तर हो सकता है, पर सार में, एसेन्स

में कोई अन्तर नहीं हो सकता। अन्तर आता है बेहोश व्यक्तियों के अनुभव और कथन में। जो व्यक्ति संस्कारों से बंधे हुए चलते हैं, उनका अनुभव भिन्न होता है, अयथार्थ और नानाविध होता है। बच्चा स्वयं के कुछेक संस्कार लेकर आता है, पर जन्मते ही हम उसमें नानाविध संस्कार भर देते हैं। वह अनाम आता है। हम उसमें नाम का संस्कार भरते हैं। वह अजाति, अकुल, अदेश और असमाज में जन्म लेता है। हम उसमें जाति, कुल, देश, समाज आदि का संस्कार दे देते हैं। हम उसे यह तेरा पिता है, यह तेरी मां है यह तेरी बहन है यह तेरा भाई है काका, दादा, नाना, नानी आदि के पारिवारिक झंझटों में ला खड़ा करते हैं। उसमें ममत्व के संस्कार बढ़ाते हैं। 'मेरापन' उसमें बढ़ता है। इस दृष्टि से क्या हम उस बालक को संस्कारी बना रहे हैं या असंस्कारी ? उसके दिमाग से दोषों, संस्कारों को मिटाया है या उसमें और अधिक संस्कार दोष भरे हैं । यह सारा अज्ञान है और यह सम्यक्ज्ञान के बिना नहीं धुलता।

प्रश्न होता है कि सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है ? इसकी एक प्रक्रिया है। जब व्यक्ति अपने ध्येय के लिए सब कुछ विस्मृत कर देता है, शरीर और बुद्धि को भी भूल जाता है, बुद्धि, मन और शरीर से परे चला जाता है तब एक समाधि की अवस्था आती है और उस अवस्था में ही सम्यक् ज्ञान हो जाता है। समाधि का अर्थ है–अपने में स्थित हो जाना। जब आदमी अपने में ठहरता है तब सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह नैश्चयिक सम्यक्ज्ञान है, आन्तरिक सम्यक्ज्ञान है। यह अनुभावत्मक सम्यक्ज्ञान है। यह शास्त्रों से या तत्त्वज्ञान से फलित नहीं होता। यह सुनने से नहीं होता। यह प्रत्यक्ष अनुभव–सापेक्ष है।

मेघ ने पूछा – भगवन् ! जब सही ज्ञान साधना–सापेक्ष है तो फिर शास्त्रों का, ग्रन्थों का अध्ययन क्यों किया जाए ?

भगवान् बोले–मेघ ! लोग बहुत कुछ पढते हैं, पर पढने के उद्देश्य को नहीं जानते। पढने के चार उद्देश्य होने चाहिए–

१. ज्ञान–प्राप्ति या ज्ञान का संवर्धन–

इससे बौद्धिक विकास के साथ–साथ सत्–असत् का विवेक भी जागृत होता है। ज्ञान के बिना कुछ भी ज्ञात नहीं होता। अच्छे और बुरे की भेदरेखा ज्ञान से ही हो सकती है।

२. मानसिक एकाग्रता–

यह शिक्षा का दूसरा उद्देश्य हैं । इससे लक्ष्य–प्राप्ति की ओर सहज गति करने की क्षमता बढ़ती है, अपने आप पर नियन्त्रण और सहज धैर्य का विकास होता है। आदमी को बाह्य एकाग्रता के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह निरन्तर अभ्यास के कारण बढ़ जाती है। पर यह बाह्य एकाग्रता उद्देश्य की सफलता में कारगर नहीं होती। सांप या सिंह भी अपने शिकार पर एकाग्र होते हैं, पर यह एकाग्रता बांधती है, उलझाती है। यहां आन्तरिक एकाग्रता के विषय की बात है। यह एकाग्रता अन्तर्मुखी बनाती है, आत्मा से जोड़ती है, स्वभाव में लाती है।

३. धर्म में आत्मा का स्थिरीकरण–

यह शिक्षा का तीसरा उद्देश्य है। ज्ञान की प्राप्ति श्रेय के प्रति प्रस्थान के लिए सहज–सरल मार्ग प्रस्तुत करती है। ज्ञान आत्मा को अपने आप में स्थिर करने में सहयोग देता है। ज्ञान के बिना श्रेयस् और प्रेयस् की भेदरेखा कर, श्रेयस् की साधना की जा सकती।

४. दूसरों को धर्म में प्रेरित करना–

यह शिक्षा का चौथा उद्देश्य है। ज्ञानी व्यक्ति ही विभिन्न व्यक्तियों को समझाकर धर्म में स्थापित कर सकते हैं। जो स्वयं आचारवान् नहीं होता, वह दूसरों को आचार में स्थापित नहीं कर सकता।

जब व्यक्ति स्वयं चंचल है, आचारहीन है, वह दूसरों को स्थिर या आचार–प्रवण कैसे बना पाएगा ? चंचल पानी में प्रतिबिम्ब नहीं देखा जा सकता। स्थिर पानी में ही प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है।

महावीर कहते है–मेघ ! शिक्षा की यह पूरी प्रक्रिया है। बिना इन उद्देश्यों के जो शिक्षा है, वह निरर्थक है, पलालभूत है।

मेघ बोला—भंते ! ज्ञान की सार्थकता का मुझे अवबोध हो गया। अब आप करुणा कर मुझे धर्मबोध की अवगति दें।

भगवान् ने कहा—

**दुर्गतौ प्रपतज्जन्तोर्धारणाद् धर्म उच्यते ।**
**धर्मेणाऽसौ धृतो ह्यात्मा, स्वरूपमधिगच्छति ।। ६/२०**

"जो अधःपतन को रोकता है, वह है धर्म। जब व्यक्ति धर्म में होता है तब वह नीचे नहीं गिरता। धर्म स्थिर रखता है और इसी से आत्म–स्वरूप का अवबोध होता है।

भगवान् का यह कथन यथार्थ है। दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है कि धर्म न ऊपर ले जाता है और न नीचे ले जाता है। धर्म व्यक्ति को 'स्व' में केन्द्रित करता है। यदि हम उसे ऊपर ले जाने वाला मानें तो कहा जा सकता है कि वह वहां ले जाता है जहां से आगे कोई गति नहीं है। उस स्थिति तक पहुंचा देना धर्म का कार्य है। स्वरूप की अवगति तब होती है जब धर्म के द्वारा आत्मा स्थिर हो जाती है। धर्म दुर्गति का अवरोधक है। गीता कहती है—''स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्''—धर्म का थोड़ा–सा अभ्यास भी आदमी को बहुत बड़े भय से मुक्त कर देता है। 'थोड़ा–सा अभ्यास' यह कथन महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति धर्म का पूर्ण अभ्यास कर नहीं सकता। सांसारिक प्राणी के लिए वह असंभव–सा है। पर थोड़ा–थोड़ा अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। एक अभ्यास यह हो, जैसा भीतर वैसा बाहर और जैसा बाहर वैसा भीतर। यह अभ्यास भी आदमी को बहुत ऊंचाई तक ले जा सकता है। आदमी अपना मुखौटा उतार फेंके तो उसकी असलियत सामने आ जाती है। यह कम साधना नहीं है। यह भी धर्म का अभ्यास है। आज आदमी के अनेक चेहरे हैं। घर में बाजार में, परिवार में, समाज में, वह अलग–अलग चेहरे धारण करता है। ध र्म–स्थान में भी उसका चेहरा भिन्न होता है। चेहरों की इस विभिन्नता का हेतु है अधर्म। हिंसा, झूठ, चोरी, अनैतिकता आदि सभी

अधर्म में आ जाते हैं। जो हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, अनैतिक आचरण नहीं करता, व्यसनों से मुक्त रहता है, वह अपनी असलियत में रहता है।

महावीर कहते हैं–

**आत्मनश्च प्रकाशाय, बन्धनस्य विमुक्तये ।**
**आनन्दाय भगवता, धर्मप्रवचनं कृतम् ।। ६/२१**

मेघ ! मैंने धर्म का प्रवचन इसलिए किया है कि आदमी मुखौटों का जीवन छोड़कर, असली जीवन जीए। जो आत्माएं अंधकार में भटक रही हैं, जो आत्माएं आवरणों से ढ़की पड़ी हैं, जो आत्माएं बहुविध बन्धनों से जकड़ी हुई हैं, उन आत्माओं को प्रकाश में लाने के लिए उनके ऊपर आए हुए कर्म–आवरणों को दूर हटाने के लिए तथा उनके बंधनों को तोड़ने के लिए मैंने धर्म का उपदेश दिया है। आदमी में अनन्त आनन्द छिपा पड़ा है। उस अनन्त आनन्द के स्रोत को प्रवाहित करने के लिए मैंने धर्म का प्रवचन किया है।

अनन्त आलोक, अनन्त सुख और अनन्त आनन्द की प्राप्ति आत्मा में स्थिर होने से ही होती है। भगवान् आत्मलीनता से प्राप्त आनन्द या सुख की बात भौतिक सुखों की तुलना से कर समझाते हैं।

महावीर कहते हैं–मेघ ! यद्यपि आत्मानन्द की तुलना बाह्य सुखों से, भौतिक सुखों से नहीं की जा सकती, फिर भी तुलना बाह्य से ही करनी होती है। तू ध्यानपूर्वक सुन–

एक मास का दीक्षित मुनि, जो श्रामण्य का यथार्थ रूप में पालन करता है, आत्मलीन बनने की दिशा में प्रयत्नशील है, वह व्यंतरजाति के देवों के सुखों को लांघ जाता है, उनसे अधिक सुखी बन जाता है।

दो मास का दीक्षित मुनि भवनवासी देवों के सुखों को लांघ जाता है।

तीन मास का दीक्षित मुनि असुरकुमार देवों के, चार मास का दीक्षित मुनि ग्रह–नक्षत्र आदि ज्योतिष देवों के, पांच मास का दीक्षित मुनि चांद–सूरज के, छह मास का मुनि सौधर्म और ईशान देवों के, सात मास का दीक्षित मुनि सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों के, आठ मास का दीक्षित मुनि ब्रह्मा और लान्तक देवों के, नौ मास का दीक्षित मुनि महाशुक्र और सहस्रार देवों के, दस माह का दीक्षित मुनि आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवों के, ग्यारह मास का दीक्षित मुनि नौ ग्रैवेयक देवों के तथा बारह मास का दीक्षित मुनि पांच अनुत्तर विमान के देवों के सुखों को लांघ जाता है, उनसे अधिक सुख का अनुभव करता है।

आत्मिक सुख की तुलना में पौद्‌गलिक सुख बिलकुल तुच्छ होता है। पौद्‌गलिक सुख भी सब में समान नहीं होता। मनुष्यों की अपेक्षा देवताओं का सुख विशिष्ट होता हैं । देवताओं में भी सुख की तरतमता रहती है। पौद्‌गलिक सुख अनुत्तर विमानवासी देवों में उत्कृष्ट होता है। उससे अधिक पौद्‌गलिक सुख किसी में नहीं होता।

इस सारे वर्णन से साधना का महत्व स्वयं प्रस्थापित होता है। महावीर बुद्ध या अन्यान्य सन्तों ने प्राणी को सबसे पहले साधना–पथ पर ले जाने का प्रयत्न किया है। इसलिए वे इस शाश्वत आनन्द में डूबकर वैषयिक सुखों को विस्मृत कर दें। इसका यह फलित नहीं है कि वे गृहस्थी में रहें ही नहीं। इसका फलित यह है कि वे गृहस्थी में रहते हुए भी अन्तर्मुखी रहें, वैषयिक सुखों को ही अन्तिम न मानें। धर्म का आत्यन्तिक फल है अनन्त आनन्द को उपलब्ध होना।

साधना के द्वारा धर्म जीवनगत होता हैं साधना के द्वारा ज्ञान सम्यक् होता है, दृष्टि सम्यक् होती है, व्यक्ति आत्मस्थ होता है। साधना का परममंत्र है–आत्मस्थ होना। सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन हमें उसी ओर ले जाते हैं।

# चुप साधन : चुप साध्य

केलवा (मेवाड़) के ठाकुर रामसिंहदासजी आत्मनिष्ठ संत और बड़े भक्त थे । उन्होंने साधना का निष्कर्ष एक दोहे में इस प्रकार रखा है–

**चुप साधन चुप साध्य है, चुप चुप मांहि समाय ।**
**चुप समझ्यां री समझ है, समझ्यां चुप ह्वै जाय ।।**

ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने कहा–

**यत् सम्यक तद्भवेन्मौनं, यन्मौनं सम्यगस्ति तत् ।**
**मुनिर्मौनं समादाय, धुनीयाच्च शरीरकम् ।। १०/४०**

जो साध्य है वह मौन है और उसकी प्राप्ति का साधन भी मौन है। मौन की साधना करने वाला, उसकी गहराइयों में उतरने वाला पापों को क्षीण कर देता है, प्रकंपित कर देता है ।

मेघ ने जितने प्रश्न किए हैं, उन सबका एक ही उत्तर है– मौन–चुप। इस उत्तर के द्वारा सारे प्रश्न समाहित हो जाते हैं । मौन में प्रवेश करने वाला व्यक्ति अपनी चेतना की गहराई में प्रवेश कर जाता है ।

मेघ ने पूछा– भन्ते ! साधक को कैसे चलना चाहिए ? कैसे बैठना चाहिए? कैसे खड़ा होना चाहिए? कैसे भोजन करना चाहिए ? कैसे बोलना चाहिए ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर महावीर ने एक

शब्द में दे दिया। वह शब्द है यतं । महावीर बोले–मेघ ! जिस कार्य को तुम कर रहे हो, उस कार्यमय बन जाओ, यहीं यतं का तात्पर्य है । तुम चलते हो तो चलने में स्थिर हो जाओ । बैठते हो तो बैठने में , बोलते हो तो बोलने में, भोजन करते हो तो भोजन करने में स्थिर हो जाओ। जो कर रहे हो, वही एक मात्र कार्य रहे, बीच में दूसरे की स्मृति न हो । मन उसी में लगा रहे, अन्यत्र न भटके । यही है मौन। मौन के बिना कर्म भावकर्म नहीं बनता, जागृत कर्म नहीं बनता । वह कर्म सोया हुआ होगा, मूर्च्छित होगा । उसमें चेतना नहीं होगी । कर्म में चेतना तब आती है जब व्यक्ति की चेतना उस कर्म में तदाकार बन जाती है । क्रिया या प्रवृत्ति में तन्मय हो जाना ही मौन है, चुप है। महावीर कहते हैं– एक सुसंवृत साधु सारी क्रियाएं करता हुआ भी पाप कर्म से नहीं बंधता–**''नादत्ते पापकं कर्म''** इसका कारण यह है कि उस साधक की सारी चेतना भीतर में कार्यशील रहती है, बाहर निकलने के सारे केन्द्र अवरूद्ध हो जाते हैं । बाहर की कोई भी रश्मि भीतर प्रवेश नहीं करती।

जैसे नोका में छिद्र होने पर पानी उसमें सहजता से प्रवेश कर जाता है और यदि नौका में छिद्र न हो तो पानी के प्रवेश का भय नहीं रहता, इसी प्रकार यदि व्यक्ति में आस्रव के छेद रहेंगे तो कर्मो का प्रवेश अवश्यंभावी होगा । यदि इन छिद्रों का संवरण कर दिया जाए तो परमाणु के जगत् में रहते हुए भी व्यक्ति उनसे स्पृष्ट नहीं होंगे, क्योंकि उनके प्रवेश के छिद्र अवरूद्ध कर दिए गए है । प्रवृति छिद्र पैदा करती है । प्रवृति का निरोध छिद्रों का संवरण करते है ।

महावीर ने बहुत मूल्यवान बात कही है– साधकों ! निरन्तर सुसंवृत रहो । अपने छिद्रों को खुला मत छोड़ो । निरन्तर जागते रहना साधक का महत्त्वपूर्ण पहलू है ।

जापान में एक संत हुए हैं । वे गांव के बाहर रहते थे । न कोई मकान और न कोई झोंपडी। एक वृक्ष के नीचे बैठे रहते दिन–रात।

जापान का सम्राट नगर चर्चा सुनने के लिए वेश बदल कर रात में निकलता । एक बार वह नगर के बाहर उसी वृक्ष के पास आ पहुंचा। उसने देखा, एक व्यक्ति रात में भी जाग रहा है । वृक्ष के नीचे रहना और जागना ! उसे बड़ा अटपटा लगा । उसने सोचा, इस आदमी के पास कोई न कोई मूल्यवान वस्तु होनी चाहिए, जिसकी सुरक्षा के लिए इसे जागना पड़ रहा है । इसके मन में भय है कि उसको कोई उठा न ले जाए । दूसरे और तीसरे दिन भी सम्राट ने उसे जागते हुए बैठा देखा। कुतूहल बढ़ा । चौथे दिन सम्राट ने पूछा–अरे ! देखो, रात कितनी बीत गई ? कौन सी ऐसी वस्तु है जिनका भय तुम्हे सता रहा है ? सारी दुनिया आराम से सो रही है और तुम एक अभागे हो कि इस ठण्डी रात में भी जाग रहे हो । सन्त ने पूछा– कौन हो तुम ? मैं सम्राट हूं जापान देश का– सम्राट ने कहा ।

सन्त बोला– जो मूल्यवान वस्तु है वह तुम्हारे पास भी नहीं है और सोने वाले लोगों के पास भी नहीं है। यदि वह चीज होती उनके पास तो वे कभी सो नहीं सकते । जो मेरे पास है । इसलिए मुझे खतरा है कि मेरे सोते ही वह चली न जाए । मैं जागता रहता हूं तो वह चीज मैंरे निकट रहती है। सम्राट ने पूछा– क्या है वह चीज ?

संत बोला–मैं उसे प्रत्यक्ष दिखा नहीं सकता, पर यह सचाई प्रकट कर सकता हूं कि जो जागता है, वह उसी के पास होती है और उसे ही दिखाई देती है, दूसरे को नहीं सम्राट ने पूछा वह क्या वस्तु है ? संत ने कहा आत्मा परमात्मा। जो जागता है उसका परमात्मा भी जागता है और जो सोता है, उसका परमात्मा भी सोता है । मैं निरन्तर जागता रहता हूं कि कहीं मेरा परमात्मा सो न जाए, उसकी विस्मृति न हो जाए । अन्यान्य लोगों के पास कहां है वह अमूल्य चीज ? जिसकी सुरक्षा के लिए वे जागे ? जिन चीजों की वे सुरक्षा करते है, उन चीजों का अस्तित्व ही क्या है ? आज है कल नहीं, आंख खुली है तब तक है और आंख बंद होते ही प्रलय हो जाता

है । मूढ़ है वे लोग, जो नकली चीजो के लिए जागते रहते हैं और असली चीज की ओर लापरवाह बने रहते हैं ।

जो व्यक्ति जागा हुआ रहता है, उसका परमात्मा भी जागा हुआ रहता है । जहां चैतन्य की विस्मृति होती, वहां परमात्मा सो जाता है। वह कर्म अवास्तविक बन जाता है, निष्प्राण हो जाता है ।

मेघ ने पूछा–'

**त्यक्तव्यो नाम देहोऽयं, पुरा पश्चात् यदा कदा ।**
**तत् किमर्थं हि भुञ्जीत, साधको ब्रूहि मे प्रभो ? १०/५**

भगवन् ! यह देह नश्वर है । इसे आज छोड़ें या कल, एक दिन इसे छोड़ना ही पड़ता है । फिर इसको पोषण देने की क्या जरूरत है ? भोजन करने की आवश्यकता क्या है ?

महावीर ने कहा– मेघ ! तुम नहीं जानते । शरीर धारण का एक उद्देश्य होता है । किन्तु लाखों व्यक्तियों में से कोई एक व्यक्ति ही इस महान उद्देश्य को समझ पाता है। पकड़ पाता है। ऊर्ध्वगमन का शरीर महान् साधन है । इस शरीर को धारण करने का,इसको पोषण देने का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए कि व्यक्ति इसके माध्यम से मौन में चला जाए, चुप हो जाए । शरीर पौद्गलिक है । यह पुद्गलों से पुष्ट होता है, परिपोषित होता है । शरीर भोजन से ही चलता है । यदि शरीर क्षीण है ,पुष्ट नहीं है, शक्तिशाली नहीं है तो हम चेतना के ऊर्ध्वारोहण में तीव्र प्रयत्न करने में समर्थ नहीं हो सकेगें । महान् उपलब्धियां समर्थ शरीर के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती हैं । कमजोर शरीर में उनका अवतरण नहीं हो सकता । सिंहनी के दूध के लिये सोने का पात्र ही अपेक्षित होता है । काव्यकार कहते हैं–शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्– धर्म की साधना का पहला साधन है शरीर । शरीर का यह उच्चतम उपयोग है शरीर के बिना साधना नहीं की जा सकती है । शरीर के द्वारा ही हम गहरे

मौन में उतर सकते हैं। शरीर एक महत्त्वपूर्ण साधन है साधना का । लेकिन प्रत्येक साधक को यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि शरीर का पोषण क्यों करना चाहिए? भोजन क्यों करना चाहिए। कुछेक व्यक्ति अपनी पाशविक वृत्तियों को तृप्त करने के लिए शरीर को ह्रष्ट–पुष्ट करते है । उनके सामने भोजन का यही एक मात्र उद्‌देश्य रहता है कि शरीर पुष्ट होगा तो भोग भोगने में आनन्द आएगा । कुछ व्यक्ति इस नेन्द्रिय को तृप्त करने के लिए भोजन करते है । भिन्न भिन्न प्रयोजन है । ये सारे प्रयोजन क्षणिक और अधोगमन के लिए नहीं। ऊर्ध्वगमन के लिए सशक्त माध्यम है। महावीर शरीर धारण के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

**बाह्यादूर्ध्व समादाय नावकांक्षेत् कदाचन ।**
**पूर्वकर्म विनाशार्थमिदं देहं समुद्धरेत् ।। १०/६**

मेघ ! शरीर– धारण का एक मात्र प्रयोजन है– आत्मोपलब्धि। आत्मसाक्षातकार की साधना करने में शरीर को वाहन बनाना, यही शरीर धारण का मुख्य उद्‌देश्य है । स्थूल शरीर के पीछे कर्म शरीर है। कर्म शरीर कारण है। शरीर धारण का हेतु है – कर्म शरीर का क्षय करना।

महावीर ने कितनी गहरी बात कही है। कितना ऊंचा प्रयोजन बताया है। इस बात को हम अनेक प्रकार से अभिव्यंजित कर सकते है । नर से नारायण बनने के लिए, आत्मा से परमात्मा बनने के लिए, जीव से शिव बनने के लिए, इस शरीर की उपादेयता है । नारायण, परमात्मा या शिव बनने के लिए संचित संस्कारो का क्षीण होना अत्यन्त आवश्यक है । इसलिए शरीरपोषण का एक मात्र उद्‌देश्य है– **पुव्वकम्मक्खयट्‌ठाए**। जब यह उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है तब आदमी कब, कितना, क्यों और कैसे खाना चाहिए, इसका विवेक कर लेता है । यदि भोजन का यह उद्‌देश्य स्पष्ट नहीं है तो

आदमी स्वाद के लिए ही खाएगा, भोग के लिए ही खाएगा, जीभ की तृप्ति के लिए ही खाएगा । वह भोजन कभी आत्मा की तृप्ति के लिए नहीं करेगा । उद्देश्य के आधार पर प्रवृत्ति होती है। जब उद्देश्य है शरीर की पुष्टि तो इसमें आत्म–तुष्टि की बात ही कहां है? शरीर की पुष्टि के लिए खाने वाला अधिक खाएगा, स्वादु पदार्थ खाएगा, अनेक बार खाएगा । उसमें भोजन की वासना, रसासक्ति निरन्तर वृद्धिंगत होती रहेगी। वह सदा बाहर के रसों से ही ओतप्रोत रहेगा। चेतना का रसास्वाद उसे कभी प्राप्त नहीं होगा । चेतना का रस तब पैदा होता है जब व्यक्ति बाहर के रसों से उपरत होता है। स्वाद सबसे दुर्जेय है । जिसने स्वाद को जीत लिया,उसने सभी रसो पर विजय प्राप्त कर ली। महावीर कहते हैं–

**जितः स्वादो जितास्तेन, विषयाः सकलाः परे ।**
**रसो यस्यात्मनि प्राप्तः, स रसं जेतुमर्हति ।। १०/२**

स्वाद–विजय की महत्ता प्रतिपादित कर महावीर भोजन का विवेक देते हुए कहते है कि साधक मात्रा से अधिक न खाए, निष्प्रयोजन न खाए, सरस भोजन की प्रशंसा और निरस भोजन की निन्दा करता हुआ न खाए। स्वाद वृद्धि के लिये खाद्य पदार्थों में विविध प्रकार के संयोग न मिलाये । वह एक या दो बार से अधिक भोजन न करे । वह मिताहारी रहे – संख्या में अल्प वस्तुएं और मात्रा में अल्प खाए ।

भूख को शांत करने के लिए व्यक्ति खाता है । भोज्य पदार्थ स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट भी होते है । जीभ का काम है–चखना। पदार्थ का स्पर्श पाकर जीभ जान लेती है कि वह स्वादिष्ट है या नहीं ! इसे रोका नहीं जा सकता । प्रत्येक इन्द्रिय–अपनी–अपनी मर्यादा में विषय का ज्ञान कराती है । इसे रोक पाना अंसभव है, किन्तु इन्द्रिय विषयों के प्रति होने वाली आसक्ति से बचा जा सकता है ।

यही साधना है ।

स्वाद– विजय के दो उपाय हैं– (१) भोजन करने के लक्ष्य का स्पष्ट अनुचिन्तन और (२) समता का अभ्यास। ये दोनो उपाय साधक को आत्माभिमुख बनाते हैं। जब उसे आत्म–रस का स्वाद आने लगता है तब पौद्गलिक रस से मन हट जाता है ।

संचित कर्मो के क्षय के लिये शरीर को भोजन दिया जाता है, किन्तु जब साधक यह ज्ञात कर लेता है कि शरीर इस कार्य में सहयोग नहीं दे रहा है ,शरीर में कोई बड़ा रोग हो गया है और अब यह अधिक टिकने वाला नहीं है तो महावीर कहते हैं – छोड़ दो शरीर को। जब वह साधना में सहयोग नहीं करता है तब उसको रखने का लाभ क्या है ? ऐसी स्थिति में शांति पूर्वक शरीर का त्याग कर देना चाहिए। शरीर का त्याग तभी होता है जब आदमी की आसक्ति मिट जाती है, ममत्व दूर हो जाता है । जब तक ममत्व रहता है, तब तक आदमी अन्तिम सांस तक उसको बचाने का भरसकर प्रयत्न करता है, पर उसे बचा पाना उसके हाथ की बात नहीं है । वह जानता है कि शरीर को एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा, फिर इसे आज छोड़ूं या कल, एक दिन पहले छोड़ूं या बाद में जिस दिन आदमी स्वयं शरीर को छोड़ देता है,उस दिन एक नयी घटना घटती है ।

शरीर आदमी को छोड़ता है, तब कोई घटना नहीं घटती । आज तक आदमी ने शरीर को नहीं छोड़ा, शरीर आदमी को छोड़ता आया है। यह सर्व साधारण बात है । किन्तु संसार में ऐसे महान व्यक्ति भी हुए है, जिन्होने शरीर को ललकारा है और निर्धारित अवसर–अवधि से पहले ही उसे छोड़ दिया है। महावीर ने शरीर को छोड़ा, बुद्ध ने शरीर को छोड़ा, रमण और कबीर ने शरीर को छोड़ा। इसलिए कबीर ने कहा – मरना पहिले जो मरे, अजर अमर वो होय – जो मरने से पहले मरता है वह अमर हो जाता है । उसी का नाम जिन्दगी है पहले इस रहस्य को नहीं समझा । जो मरने से पूर्व एक

बार मरकर देख लेता है, मृत्यु उसके पास नहीं आती, वह मृत्यु विजेता बन जाता है । शरीर ने हमारे साथ सदा आंख– मिचौनी की है । उसने अनन्त बार हमे धोखा दिया है, हमको असहाय छोड़ा है, हमने कभी यह साहस नहीं किया कि उसे छोड़कर अलग हो जाए। यही वासना पूर्वजन्म की हेतु बनती है । प्राणी मरता है, फिर जन्म लेता है इस चक्र का एक मात्र कारण है – शरीर के प्रति वासना, आसक्ति । जब तक वह पूर्णरूप से नहीं टूटती है, उससे छुटकारा नहीं मिलता है ।

महर्षि रमण को लगा कि अब शरीर शिथिल हो रहा है, शक्तियां क्षीण हो रहीं है, तब उन्होने सोचा, मुझे मृत्यु का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहिए। वे लेट गये अनुभव करने लगे । अब प्राण निकल रहे हैं, छूट रहा है शरीर। वह जड़ हो गया जड़ता का उन्हे स्पष्ट बोध होने लगा । पैर उठ नहीं रहे है, तथा हिलाना भी असंभव हो गया शरीर निश्चेष्ट हो गया है, चिन्तन आगे बढ़ा। सोचा शरीर की इन सभी अवस्थाओ को कौन देख रहा है ? इसे देखने वाला भी कोई भीतर बैठा हुआ है । चिन्तन की तीव्रता से उनकी भ्रान्ति टूट गई । उन्होंने देख लिया – नहीं मरने वाला भीतर जाग रहा है, खड़ा है । तब वे उठकर खड़े हो गये ।

यह है शरीर को छोड़ना, मृत्यु का दर्शन। महावीर कहते हैं– जब शरीर की उपादेयता न रहे उसके प्रति आसक्ति मिट जाये, तब शरीर को छोड़ने का उपक्रम प्रारम्भ कर दो । शरीर का प्रयोजन है – ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना। जब यह ज्ञात हो जाये कि रत्नत्रयी की साधना में शरीर सहयोग नहीं कर रहा है तो फिर उससे चिपके रहने का अर्थ ही क्या है?

जैन परम्परा में स्वेच्छा मरण की पद्धति को अनशन कहा जाता है । अनशन वह व्यक्ति स्वीकार करता है, जिसका शरीर से मोह टूट जाता है। यह सही अनशन है । कभी कभी आदमी भावावेश में भी

अनशन स्वीकार कर लेता है, मानसिक कारण से भी अनशन कर लेता है । इसका समाधान महावीर मेघ के प्रश्न के उत्तर में देते हैं।

मेघ ने पूछा – भगवन् ! मरना अच्छा है या जीना ? महावीर बोले – मेघ ! न जीना श्रेयस्कर है न मरना श्रेयस्कर है । जीना भी श्रेयस्कर है और मरना भी श्रेयकर है। मेघ ने पूछा यह समझ के परे की बात है । जीना अच्छा भी है , बुरा भी है, और मरना अच्छा भी है, बुरा भी है । दोनों कैसे? या तो अच्छा होगा या बुरा होगा । दोनों नहीं हो सकते ।

महावीर बोले – इस जगत् में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं–

१. बाल, पंडित और बाल–पंडित ।

२. सुप्त, जागृत और सुप्त–जागृत ।

३. अधर्मी, धर्माधर्मी और धर्मी ।

प्राणियों का यह वर्गीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसमें किसी देश, जाति, कुल या परम्परा का भेद नहीं । महावीर कहते है – वह व्यक्ति बाल है, मूर्ख है, बच्चा है, फिर चाहे वह पचास या सौ वर्ष का भी क्यों न हो गया है ? यदि उसके जीवन में धर्म का दिया नहीं जला है, धर्म की ज्योति प्रज्वलित नहीं हुई है । पंडित वह होता है जिसके भीतर दिया पूरी तरह से जल जाता है । वह कभी बुझता नहीं। बाल पंडित वे व्यक्ति हैं, जिनमें धर्म का दिया कभी जलता है , कभी बुझा रहता है । उसकी ज्योति पर ढ़क्कन पड़ा रहता है । इसी प्रकार आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से कुछ व्यक्ति सुप्त हैं– गाढ़ निद्रा मे सोये हुए है कुछ जागृत है , पूर्णरूप से होश में है और कुछ सुप्त जागृत हैं– कुछ होश में, कुछ बेहोशी में है । ये सारे विभाग अध्यात्म विकास की भूमिका पर आधारित हैं ।

पतञ्जलि ऋषि ने मन की पांच अवस्थाए मानी हैं– मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त,एकाग्र और निरूद्ध। मन की प्रथम दो अवस्थाएं साधना के अयोग्य होती है मूढ़ अवस्था मे मन अत्यन्त मोहित रहता है । क्षिप्त

अवस्था में अत्यन्त चंचल अवस्था है । मूढ़ और क्षिप्त अथवा तमोगुणी और रजोगुणी की अवस्था है। जब विक्षिप्त अवस्था आती है तब मन कहीं टिकता नहीं। यह अवस्था तब तक चलती रहती है जब तक मन की एकाग्र अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती है। एकाग्र अवस्था निरोध अवस्था की पहली भूमिका है । पांचवी अवस्था है निरूद्ध। यह पूर्ण मौन की अवस्था है । पतञ्जलि अपनी भाषा में बोल रहे है और महावीर अपनी भाषा में बोल रहे हैं । भाषा का भेद हो सकता है, पर तात्पर्य में कोई बड़ा अन्तर नहीं हैं । अधर्मी वह होता है जिसका चित्त अस्थिर और चंचल होता है । मन गति करता ही रहता है, सपने में भी और नींद में भी । वह रूकता नहीं है। यह मन की मूढ़ और क्षिप्त अवस्था है । धर्मी का मन स्थिर रहता है । यह मन की एकाग्र या निरूद्ध अवस्था है। धर्माधर्मी का चित्त स्थिर–अस्थिर – दोनों प्रकार का होता है । यह मन की विक्षिप्त अवस्था होती है ।

साधना का पथ क्रमिक अभ्यास का पथ है । जब व्यक्ति क्षिप्त अवस्था से मूढ़ और मूढ़ से विक्षिप्त,विक्षिहा से एकाग्र और निरूद्ध अवस्था की ओर बढ़ता है तब मानना चाहिये कि अध्यात्म–पथ का पिपासु है , आगे बढ़ने का इच्छुक है । जो व्यक्ति यह चाहता कि उसकी तन्द्रा टूटे, मोह का आवरण हटे, वह व्यक्ति साधक के पथ पर आएगा और क्रमिक विकास करता चलेगा । जिस व्यक्ति में यह बोध या चाह ही पैदा नहीं होती, वह आदमी उलझता जाता है । दादू कहते है– आपा उलझे उलझियां, आपा सुलझे सुलझियां । दूसरा कोई उलझाने वाला या सुलझाने वाला नहीं है । व्यक्ति स्वयं ही स्वयं को उलझाता है और स्वयं ही स्वयं को सुलझाता हैं । लेकिन आदमी को स्वभाव में आनन्द नहीं आता है । स्वभाव या सुलझाव में रस नहीं है विभाव या उलझाव में रस है । जब आदमी चुप समझ्या री समझ है–इसको समझ लेता है तब वह मौन में चला जाता है, चुप हो जाता है । यथार्थ ज्ञान पैदा होते ही व्यक्ति की दिशा बदल जाती है।

महावीर कहते है – मेघ ! मैंने कहा था कि जीना अच्छा भी है और बुरा भी । मरना अच्छा भी है और बुरा भी है । संयमी जीवन जीना अच्छा है, असंयमी जीवन जीना बुरा है । अनशनपूर्वक मरना अच्छा है , श्रेयस्कर है । संयमी अवस्था में मरना अच्छा है और असंयमी अवस्था में मरना बुरा है ।

जो व्यक्ति अकाम मरण मरते हैं , उनका मरना प्रशस्त नहीं है। वे पर्वत या वृक्ष से नीचे गिरकर,समुद्र, नदी या कुएं में छलांग लगाकर या अपने ऊपर तेल छिड़ककर अग्नि लगाकर मरते हैं – वे अप्रशस्त मरण मरते है । आत्म हत्या किसी भी संदर्भ में प्रशस्त नहीं मानी जाती। उसके पीछे राग, द्वेष की भावना, प्रेरणा काम करती है। आत्म हत्या आवेश में होती है । आवेश अच्छा नहीं माना जा सकता ! स्वेच्छा पूर्वक शरीर के विसर्जन में तनिक भी आवेश नहीं रहता। उस व्यक्ति के मन में मृत्यु का भय या पीड़ा नहीं रहती । आत्म हत्या से शरीर का विसर्जन करने वाला प्राणी जन्म–जन्मान्तरों में भी धार्मिक नहीं बन पाता। यह आत्म हत्या अभिशाप है। आत्म–इन जन्म मरण के चक्र से छूट नहीं पाता।

महावीर कहते है जहां आवेश आवेग की स्थिति नहीं है, राग–द्वेष की प्रेरणा नहीं है, उस स्थिति में व्यक्ति अपने नश्वर शरीर को अनुपयोगी मानकर छाड़ने का उपक्रम करता है , आहार का त्याग कर शरीर को शनैः–शनैः क्षीण करता है, प्रसन्नमन और आनन्दित रहता है, उस सिथति में मरण का वरण करना प्रशस्त होता है । यह समाधि मरण का मार्ग है।

जो व्यक्ति संयम की सुरक्षा और स्वभाव की सुरक्षा के लिए प्राण देता है, वह संयममय मरण है,प्रशस्त मरण है । यह सकाम मरण है। महारानी धारणी ने जब देखा कि उसके शील पर आक्रमण हो रहा है । वह उसकी सुरक्षा करने में असमर्थ है, तब उसने जीभ खींच कर प्राण त्याग दिए। महावीर कहते है – यह मरना अच्छा है, धर्म और स्व आत्म–सुरक्षा के लिए।

जो व्यक्ति आत्मलीन होकर सकाम मरण को पसन्द करता, जो चुप में मरता है, महावीर कहते है कि ऐसा व्यक्ति सारे कर्मो को जलाकर भस्म कर डालता है, जैसे अग्नि सूखे ईन्धन के ढेर को जलाकर राख बना डालती है। आत्मलीन चाहे कोई भी क्यों न हो, गृहस्थ हो या श्रमण, स्त्री हो या पुरूष, उसकी आत्म शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि पूर्व संचित सारे संस्कार शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। महावीर यदि यह कहते कि मेरे संघ में आने से ही ऐसा हो सकता है तो वे बहुत छोटे हो जाते, महावीर नहीं रहते । वे व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–जो अप्रमत रहता है, चुप की साधना करता है, उसके लिए लिंग, रंग या वेश की प्रतिबद्धता नहीं हैं। वेश चाहे काला हो, नीला हो, लाल हो, भगवा हो या सफेद हो या कोई वस्त्र ही न हो,नग्नत्व हो–सब में मुक्ति हो सकती है । प्रमाण में मुक्ति नहीं होती, फिर चाहे कोई कैसे ही वस्त्र क्यों न पहन ले । मुक्ति की एक मात्र शर्त है – अकषायभाव, अप्रमत्तभाव ।

मेघ ने पूछा – " भंते ! कोई जीव मरकर देवता बनता है, कोई मनुष्य, कोई नारक और कोई तिर्यञ्च ऐसा होने का मुख्य कारण क्या है ? प्रत्येक जीव देवता बनना चाहता है, नारक या तिर्यञ्च नहीं,तो फिर ऐसा क्यों होता है ?

महावीर ने कहा – **शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां, संसारमनुवर्तते ।**

मेघ ! अपने शुभ और अशुभ कर्मों के प्रभाव से जीव संसार में अनुवर्तन करता है– जन्म–मरण करता है । सुनो, मैं तुम्हे देव, मनुष्य आदि योनियो में जन्म लेने के कुछेक मुख्य कारण बतलाता हूं। कुछ कारण बहुत स्पष्ट होते है। उन कारणों से हम कार्य की परिकल्पना कर लेते हैं। ये कारण मनुष्य के भीतर के भाव जगत की सूचना देते है करीब–करीब ये कारण यथार्थ के निकट हैं। भगवान महावीर ने इन्हे देखा है, अनुभव किया है। ऐकान्तिक न होते हुए भी ऐकान्तिकता की सूचना देते हैं। जीवो के संसार में परिभ्रमण के चार मुख्य स्थान हैं। जिन्हे चार गति कहते हैं। जीव जहां एक जन्म से दूसरे जन्म

में गमन करते है। वे है नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। नरक गति में जाने के चार कारण हैं–

(1) पञ्चेन्द्रिय हिंसा–वध।

(2) महाहिंसा।

(3) महापरिग्रह और

(4) मांसाहार–मांस भोजन

इनमें भावों की क्रूरता रहती है। बिना क्रूरता के एक पञ्चेन्द्रिय जीव की हिंसा कैसे शक्य हो सकती है ? जब किसी दुर्बल पर जुल्म, अत्याचार या उसका उत्पीड़न देखते है तब सहज ही मन करूणा, दया से भर जाता है, इससे यह स्पष्ट होता है कि क्रूर बने बिना वह किसी के प्राणों को छीन नहीं सकता। बार–बार के बर्बरता पूर्वक वर्तन/आचरण या दर्शन से आत्मा की कोमलता सुप्त हो जाती है और व्यक्ति हिंसा में अभ्यस्त हो जाता है।

ऐसे व्यवसाय महाहिंसा की कोटि में आते हैं, जिसमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा द्विन्द्रिय,त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा का सतत क्रम चलता रहता है तथा ऐसे अन्य भी कार्य–व्यवसाय जो महाहिंसा से संभूत होते है। महापरिग्रह–जीवन की अनिवार्यता अलग है और लालसा–आसक्ति अलग है। आसक्ति का संबन्ध अनिवार्यता से नहीं, तृष्णा से है। महापरिग्रह तृष्णा की प्रबलता है। मम्मण श्रेष्ठी के पास करोड़ों की संपत्ति होने पर भी तृष्णा अतृप्त थी। एक ओर सोने चांदी रत्न माणक, मोती हीरे जडित बैल की आंकाक्षा थीं। उसी अतृप्ति के कारण मृत्यु के बाद वह नरक गति में उत्पन्न हुआ। परिग्रह की तीव्रतम आसक्ति में मूढ़ बना व्यक्ति कार्याकार्य, उचितानुचित के विवेक में शून्य हो जाता है। उसका समग्र ध्यान परिग्रह में ही डूबा रहता है। किसीने अमेरिका के धनपति से मृत्यु के समय पूछा आप की कोई इच्छा ? – उसने कहा सिर्फ एक इच्छा अपूर्ण रह गई। मैं चाहता था सौ अरब रूपये संग्रहीत करना, किन्तु दस में ही मुझे संतोष करना पड़ रहा है।

मांसाहार भी नरक का एक कारण है। यह मनुष्य की प्रकृति के विपरीत है। मनुष्य का भोजन नहीं है। मानसिक, शारीरिक और भावनात्मक दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं है। सभी धर्मो ने निषेध किया है। प्रकृति को तमोगुणी बनाता है। तमोगुण हिंसा है। तिर्यञ्च योनि के निमित्त है :–

(१) कपट (२) प्रवञ्चना, (३) असत्य भाषण और (४) कूट तोल–माप

स्वभाव से व्यक्ति जितना जिस, मात्रा में दूर हटता है वह उतना ही और उसी मात्रा में सांसारिक गतियों में परिभ्रमण करता हैं मनुष्य कारणों को समझ कर और उनसे दूर रह कर अपना संरक्षण कर सकता है। हेतुओं की चर्चा का उद्देश्य यही है कि अशुभ से बचे और शुभ में प्रवृत्त हो। इसीलिए कहा है –

**कबीरा आप ठगाइए, ओरन ठगिये कोय।**
**आप ठगाया सुख होत है ओर ठग्या दुःख होय।।**

स्वभाव से विपरीत चलने में अनेक व्यवधान हैं, जैसे – स्वार्थ, मोह, वासना, मिथ्या–मानदण्ड और मुख्य कारण है – स्वयं का अज्ञान, अविवेक।

मनुष्य योनि की प्राप्ति होती है – (१) विनीतता–सरलता, दयालुता, अल्प हिंसा–अल्प परिग्रह और मात्सर्य–रहितता। मेघ स्वयं उसका उदाहरण है। दया के कारण ही वह पशुयोनि से सम्राट श्रेणिक के महल में राजकुमार के रूप में अवतरित हुआ। जैसे–जैसे मनुष्य का विवेक जागृत होता है, विभाव से घृणा होती है, सद्गुणों से अनुराग बढता है वह विकास मार्ग का अनुगामी बन जाता है । जीवन की आवश्यकताओं का अल्पीकरण कर हिंसा आदि का भी कम से कम आचरण करता है। ईर्ष्या, मात्सर्य की भावना से ऊपर उठ जाता है और अपने जीवन को स्वच्छ, सादगीमय, सत्य, व्यवहार परक और उदात्त बना कर मनुष्य योनि के रूप में अपनी व्यवस्था बना लेता है ।

देवयोनि के निम्न चार हेतु बनते हैं –

(१) सराग–संयम – अवीतराग का संयम,

(२) संयमा–संयम–अपूर्ण संयम,

(३) अकाम–निर्जरा – जिसमें मोक्ष का उद्देश्य न हो वैसे तप से होने वाली आत्मशुद्धि और

(४) बाल तप – अज्ञानी का तप ।

स्वर्ग का क्षेत्र बड़ा विशाल है, वहां उत्पन्न होने वाले जीवों की स्थिति सबकी समान नहीं है । छोटे–बड़े स्वामी सेवक, सामान्य, असामान्य आदि रेखाये कर्म के अनुसार है । राग और द्वेष के पूर्ण क्षय होने पर मोक्ष है। राग–द्वेष की स्थिति में संसार है। देव होना भी संसार है। राग युक्त मुक्ति की चर्या/संयम मुक्ति नहीं देता/ गीता की भांति वे योगभ्रष्ट/अपूर्ण साधना के होने से स्वर्ग में जाते हैं। संयम पूर्ण होने पर भी राग के कारण यह स्थिति बनती है । संयमासंयमवान व्यक्ति में संयम और असंयम दोनों रहते हैं। वे गृहस्थ साधक होते हैं। लक्ष्य उनका भी वहीं मोक्ष है। वे भी अपनी साधना के कारण स्वर्ग को पवित्र करते हैं ।

अकाम निर्जरा और वाल तप ये दोनों शब्द जैन दर्शन के पारिभाषिक हैं। अनेक व्यक्ति अज्ञान पूर्वक तप करते हैं तथा जो मोक्ष के उद्देश्य के बिना तप करते हैं, उसका फल तो उन्हें प्राप्त होता ही हैं, भले वांछित लाभ न मिले। एक तप :– साधना सलक्ष्य होती है, एक निर्लक्ष्य । एक उद्देय पूर्वक गति होती है और एक निरूउद्देश्य । दोनों में बड़ा अन्तर होता है। यही स्थिति यहां होती है। लक्ष्य पूर्वक और विवेक पूर्वक साधना करने वाले जितनी सहजता से ध्येय को प्राप्त करते है,उतना अन्य नहीं। फिर भी वे अपनी यत्किंचित् आत्म–शुद्धि के कारण देवगति का वरण कर लेते हैं। भगवान महावीर ने निरूद्देश्य और अज्ञान पूर्वक तप साधना कष्ट–सहिष्णुता के माध्यम से जो आत्मशुद्धि होती है उसे ग्राह्य मानकर उन्हे भी स्वर्ग की योग्यता प्रदान की है।

अन्त में महावीर कहते हैं– मेघ ! मैंने सांसारिक प्राणियों के जन्म–मरण के ये कुछ स्थूल कारण निर्दिष्ट किए हैं ।वास्तव में

प्राणी अपने अच्छे–बुरे अध्यवसायों से ही विभिन्न योनियो में जन्म लेते है उन प्राणियो की मुक्ति भी अध्यवसायों की पवित्रता से होती है । इसलिए मैंने कहा –

**मुच्यते चान्यलिंगोऽपि, गृहिलिंगो, पि मुच्यते । १०/३५**

मुक्त होने में आत्म शुद्धि की प्रधानता है, लिंगवेष की नहीं । जो वीतराग बनता है, राग–द्वेष से विलग हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। भले फिर वह अन्यलिंगी–जैनतर साधु के वेष में हो या गृहलिंगी–गृहस्थ के वेष में हो ।

वेष केवल एक पहचान है। उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि उससे व्यक्ति को यह भान बना रहे कि गृहस्थ साधक हूं या मुनि हूं । जब यह बोध निरन्तर बना रहता है तब व्यक्ति अपने कर्तव्य के प्रति मूढ़ नहीं बनता। साधुओं के विभिन्न वेष है । उन वेषों से ही उन्हें यह निरन्तर ध्यान रहता है कि वे गृहस्थ नहीं है, मुनि हैं । उन्हें वही कार्य करने है जो साधकोचित हों। वास्तव में वेश मुक्ति में साधक या बाधक नहीं बनता । मुक्ति का एक मात्र उपाय है – कषाय की क्षीणता । वह किसी भी वेष में हो सकती है।

साधना में महत्त्व है – अपने आप में ठहरने का,पूर्ण मौन का । इसीलिए ठाकुर रामसिंहदास जी का यह कथन पूणर्तः सत्य है – 'चुप साधन, चुप साध्य' है । साध्य भी चुप या मौन है और साधन भी चुप या मौन है। शुद्ध साधन के लिए शुद्ध साधन अपेक्षित होता है । मोक्ष साध्य है । मोक्ष को मौन भी कहा जा सकता है । वह मौन ही है । उसकी प्राप्ति का साधन भी मौन ही होना चाहिए । क्या कोई बोलता आदमी मौन को प्राप्त हो सकता है ? क्या वाणी की चंचलता से मौन प्राप्त होगा ? जहां वाणी की चंचलता है वहां शरीर और मन की चंचलता भी है । मौन चंचलता से नहीं मिल सकता । मौन मौन से ही प्राप्त हो सकता है । पूर्ण मौन की अवस्था में ही साधक की मुक्ति हो सकती हैं । वहां श्वास भी पूर्ण शान्त हो जाता है । साधन भी चुप और साध्य भी चुप।

आज साधक साधन–पद्धतियों की विविधता को देख कर भ्रान्त हो जाता है । लक्ष्य एक हो सकता है, पर वहां तक पहुंने के मार्ग अनेक हो सकते हैं । साधकों की रुचि और तरतमता के कारण मनीषियों और तत्त्ववेत्ताओं ने भिन्न–भिन्न प्रक्रियाओं का निर्देश किया है । सभी साधकों के लिए एक ही प्रक्रिया कारगर नहीं हो सकती । कुछ साधक सात्त्विक वृत्ति के होते है, कुछ तामसिक और कुछ राजसिक वृत्ति के होते है । कुछ में प्रबल क्षमताएं होती है, कुछ मंद क्षमता वाले होते हैं । रुचि और बुद्धि की तरतमता भी होती है । उनके लिए विभिन्न साधनाएं हैं । वे साधना करते–करते वहीं पहुंच जाते हैं, जहां चुप होना होता है, एकाग्र होना होता है । भले, देर सबेर हो।

अन्त में महावीर कहते हैं–मेघ ! जीवन की प्रत्येक अवस्था में तुम मौन से गुजरो । मौन से चलो । तुम मौन के द्वारा साध्य तक पहुंच जाओगे।

# आत्मा स्वतंत्र है या परतंत्र ?

महावीर की अनुभव पूत वाणी से मेघ का मन समाहित हो गया था। फिर भी मन में अनेक जिज्ञासाएं उभर रही थी। जिज्ञासा प्राणवत्ता का प्रतीक है । मेघ ने पूछा–भंते ! आत्मा स्वतन्त्र है या परतंत्र ! क्या आत्मा स्वयं संचालित होती है या कोई दूसरी सत्ता उसे संचालित करती है ?

**अस्त्यात्मा चेतनारूपो, भिन्नः पौद्गलिकैर्गुणैः ।**
**स्वतंत्रः करणे भोगे, परतंत्रश्च कर्मणाम् ।। ११/१**

मेघ ! इसका उत्तर अनेकान्त की भाषा में दिया जा सकता है । आत्मा स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी है । किन्तु उसकी स्वतंत्रता और परतंत्रता स्व–सापेक्ष है, पर–सापेक्ष नहीं । वह कर्म करने में स्वतंत्र है उसका फल भोगने में परतंत्र है । आत्मा का स्वरूप है चेतनामय–ज्ञानदर्शनमय । यह जड़ के गुणो से भिन्न है । सभी जड़ अचेतन है । केवल आत्मा ही चेतन है ।

भगवान महावीर ने आत्मा की स्वतंत्रता और परतंत्रता का कथन किया । कर्म करना स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करता है । पर उन कर्मो का फलोपभोग होता है तब इच्छा काम नहीं आती । उसे भोगना ही पडता है। कर्म का जो फल आता है उसे अन्यथा करना भी आदमी के वश की बात नहीं है ।

आदमी बुरे कर्म करने में नहीं हिचकता, पर बुरा फल नहीं चाहता । आदमी अच्छे कर्म का अच्छा फल भोगने में प्रसन्न होता है, किन्तु बुरे कर्म का बुरा फल भोगना नहीं चाहता । यह प्राणी मात्र का स्वभाव है। आदमी कभी नहीं चाहता कि वह दुःखी बने, निर्धन

रहे, उसे बुढ़ापा सताए, उसे मृत्यु आए । पर वह दुःखी भी होता है, बूढ़ा भी होता है और मरता भी है । क्योंकि कर्म का फल सबको यथावत् भोगना पड़ता है । प्राणी विभिन्न योनियों में जाता है। वे भी कर्म के अधीन होती है। कबीर ने इसे इस भाषा में अभिव्यक्त किया है–

**एक राम दशरथ घर डोलै, एक राम घट-घट बोले ।**
**एक राम का सकल पसारा, एक राम सबसे न्यारा ।।**

कबीर ने राम के चार रूप बना दिये । एक राम वे हैं जो दशरथ के घर जन्मे । एक राम वे है जो व्यक्तियो के घट–घट में में बैठे हैं । एक राम वे जिनका यह सारा विस्तार है । एक राम वह हैं, जो सबसे न्यारा है, सबसे अलग है । जो वीतराग बन जाता है, वह राम सबसे न्यारा है , राम एक है पर अवस्थाएं अलग हैं ।

यह सारा संसार आत्मा की रचना है, राम की रचना है, विस्तार है। जब तक आत्मा परतंत्र है,राम परतंत्र है तब तक संसार की रचना होती रहती है, विस्तार होता रहता है। सारी वृत्तियों का निर्माण, स्नेह–बंधन, मोह, माया आदि का विस्तार आत्मा ने किया है । यही संसार है । गीता के अनुसार सृष्टि त्रिगुणात्मिका है । सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण के द्वारा संसार का निर्माण होता है । यदि ये गुण मिट जाएं तो संसार समाप्त हो जाए।

आत्मा की स्वतंत्रता का यह प्रबल पक्ष है कि उसमें दुःखमुक्ति की जिज्ञासा जागती है । वह जानना चाहती है कि कौनसा मार्ग है जिससे दुःख का नाश हो,बन्धन टूटे । बन्धन दुःख है । मुक्ति सुख है । यह सोचना ही आत्मा की स्वतन्त्रता है ।

महावीर कहते है–

**लब्ध्वा मनुष्यतां धर्मं, श्रणुयाच्छ्रद्दधीत यः ।**
**वीर्यं स च समासाद्य, धुनीयाद् दुःखमर्जितम् ।। ११/८**

मेघ ! जीवन के चार अंग प्राप्त होने दुर्लभ है –

१. मनुष्यत्व, २. धर्मश्रुति, ३. श्रद्धा और ४. संयम में पुरुषार्थ ।

जीवन के ये चार प्रशस्त अंग है, विभाग हैं । ये अंग प्रत्येक व्यक्ति को सहज प्राप्त नहीं होते हैं । चारों का योग विरले व्यक्तियो को मिल पाता है। जिनको ये चार प्राप्त नहीं हैं, वे धर्म की पूर्ण आराधना नहीं कर सकते। एक की भी कमी उनके जीवन में लंगड़ापन ला देती है ।

शंकराचार्य कहते हैं –

**दुर्लभं त्रयमेवैत्, देवानुग्रहहेतुकम् ।**
**मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं, महापुरुषसंश्रयः ।।**

तीन बातें दुर्लभ हैं–मनुष्यत्व, मुमुक्षाभाव और महापुरुषों की संगति।

चार और तीन में कोई विशेष अन्तर नहीं है । एक बात स्पष्ट है कि मानव–जीवन की प्राप्ति दुर्लभ है। मनुष्य की विकसित चेतना यह स्पष्ट करती है कि अतीत में मानव–शरीरस्थ आत्मा ने कोई विशेष पुन्य किया था जिससे यह देह मिली है । चौरासी लाख योनियों की अनन्त–अनन्त यात्राओ के पश्चात् इस जीवन में आने का सुअवसर मिला है । यह जीव सभी जीव योनियों में जन्म ले चुका है । यह अजंगम भी बना है, जंगम भी बना है । यह जीव पृथ्वी, पानी, वायु अग्नि और वनस्पति योनि में भी जन्मा है । दो इंद्रिय वाला, तीन इंद्रिय वाला, चार इंद्रिय वाला, पांच इंद्रिय वाला, प्राणी भी बना है । कभी इसकी चेतना अत्यधिक आवृत हुई है और कभी कुछ अधिक अभिव्यक्त हुई है । मनुष्य सबसे विकसित चेतना वाला प्राणी है । यह जीवन–सेतु है । शेष प्राणी किसी न किसी किनारे का जीवन जीते हैं । मनुष्य के हाथ में वह सत्ता है कि चाहे तो वह उस पार का जीवन जी सकता है और चाहे तो इस पार का जीवन जी सकता है । वह परमतत्त्व का प्रत्यक्षीकरण भी कर सकता है और नीचे भी फिसल सकता है । नीचे गिरने का अर्थ है – वही चौरासी लाख योनियो का जीवन।

दूसरा दुर्लभ तत्त्व है–धर्मश्रुति, धर्म का सुनना। यह अत्यन्त दुर्लभ है मनुष्य जीवन एक सांयोगिक घटना हो सकती है किन्तु धर्म–श्रवण

प्रयत्न–साध्य है । इसमें दो का योग रहता है । एक होता है धर्म का उपदेष्टा और दूसरा होता है धर्म का श्रोता । आज दोनो दुर्लभ हैं । धर्म को समझने वाले और जीने वाले व्यक्ति बहुत कम हैं । जो धर्म को जानते हैं, जीते है, केवल कथन ही नहीं करते, आचरण भी करते हैं–ऐसे लोगो के पास धर्म का श्रवण श्रेयस्कर हो सकता है, यथार्थ हो सकता है । जिन्हें धर्म के विषय का अपना अनुभव नहीं है, वे धर्म को क्या बता पाएंगे ? इसी को लक्ष्य कर महावीर कहते हैं –

**आत्मगुप्तः सदा दान्तः, छिन्नस्त्रोता अनाश्रवः ।**
**स शुद्धधर्ममाख्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम् ।। ११/३१**

धर्मोपदेश का कार्य सरल नहीं है। दिखने में सरल दिखाई देता है। किन्तु उसके लिए वह बड़ी योग्यता की अपेक्षा है। योग्यता के अभाव में बहुत बड़ा दुष्परिणाम आ सकता है। भगवान महावीर ने कहा – किं पुरिसे ? किं च नए। परिषद् को देखना चाहिए, व्यक्ति को देखना चाहिए – सामने वाला व्यक्ति कौन है ? किस मान्यता का है ? इसका विवेक वक्ता के लिए बहुत अपेक्षित है। इसके साथ वक्ता का स्वयं का जीवन भी प्रेरणास्पद होना चाहिए। उसका आचरण, वर्तन धर्म के अनुकूल न हो तो उपदेश का प्रभाव शून्य रहता है। इसलिए ये गुण उपादेय है।

आत्म गुप्त–संयमवान हो–आत्मस्थित हो, अपने को आत्मा में छिपाये रखता हो, बाहर से क्रिया करता हुआ भी, जो आत्मा को विस्मृत नहीं करता है। जिसकी इन्द्रियां और मन उसके स्व–वश में हो, मन और इन्द्रियों का वह गुलाम न हो, अपितु वे उसका अनुगमन करने वाली हो। अन्यथा खाने के बैंगन और पोथी के बैंगन अलग–अलग हो जायेंगे। कहना कुछ करना कुछ यह विसंगति है। 'कथनी मीठी खांड़ सी, करणी विष सी होय।' छिन्न स्त्रोता कर्म के

आगमन के मार्गो को जिसने छिन्न कर दिया है, या उस दिशा में सतत प्रयत्नशील है। साधना की यह उच्च स्थिति है। इस स्थिति के बिना अन्तर्मुखता नहीं आती और न आत्मस्थता भी सिद्ध होती है। बहिर्मुखी वृत्ति वाला व्यक्ति भीतर में रस नहीं ले सकता। उपदेशक को तटस्थ–मध्यस्थ भी होना चाहिए। वह छोटी–छोटी बातों में विक्षुब्ध नहीं हो सकता। उसके पास अपनी दृष्टि होती है। वह जानता है – द्वन्द्वों में जीने से आत्मा का हित नहीं सधता। संसार द्वन्द्व है, साधक के सामने भी द्वन्द्वात्मक स्थिति आती है किन्तु वह केन्द्र को पकड कर अनुकूल–प्रतिकूल में तथा विपरीत आचरण करने वालों के प्रति सदा तटस्थ बना रहता है। वही पूर्ण, शुद्ध और असाधारण धर्म का उपदेश दे सकता है। ऐसे व्यक्ति से ही धर्म का श्रवण होता है । शुद्ध उपदेष्टा के योग से ही जिज्ञासु श्रोता के जीवन में क्रान्ति घटित होती है । यही श्रवण की दुर्लभता है । इसलिए धर्म का उपदेष्टा और धर्म का श्रोता दोनों दुर्लभ हैं ।

सुनना भी एक कला है। जब सुनने में तन्मयता नहीं आती तब आदमी अन्यमनस्क हो जाता है, या तो वह विचारो की उधेड़–बुन में लग जाता है या फिर नींद में चला जाता है । जागरूकता से सुनना ही यथार्थ में सुनना है । जब सुनने में जागरूकता नहीं होती तब उसके आचरण की बात ही कहां आती है ! उसके प्रति विश्वास कैसे जन्म सकता है ! महावीर अनुभवी थे, भीतर से जागे हुए थे । दिव्य चक्षु से सम्पन्न थे। इसीलिए उन्होने कहा–धर्म की श्रुति अत्यन्त दुर्लभ है। नानक कहते है कि आदमी ठीक से सुने तो सुन कर ही मुक्त हो जाए। वह सुनते–सुनते सारी ग्रंथियों को तोड़ कर आगे बढ़ जाता है । जिसको सुनना आ गया, उसने सभी अड़सठ तीर्थो की यात्रा पूरी कर ली। सुनने से आदमी अपने भीतर के मालिक से साक्षात्कार कर लेता है ।

तीसरा दुर्लभ तत्त्व है – श्रद्धा, आस्था । यदि धर्म को सुनने का अवसर भी मिल जाए, पर उस पर विश्वास होना कठिन है। अनेक

पंथ है, मार्ग है,धर्म के अखाड़े हैं । कहां विश्वास टिकाए आदमी ! भटक जाता है । महाभारत में कहा है – **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्** -धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा पड़ा है । गुफा पहाड़ों की नहीं, अपने भीतर की। वहां हृदय की गुफा में धर्म का सार पड़ा है । वही व्यक्ति वहां पहुच सकता है, जो उसे खोजता है। जिसमें धर्म के प्रति आस्था है और वह उस गुफा में प्रवेश कर जाता है । वहां उसे धर्म का रहस्य प्राप्त हो जाता है । यह सब आस्था से ही हो सकता है। चौथा दुर्लभ तत्त्व है – संयम में शक्ति का नियोजन । मनुष्य का जन्म भी मिल गया । धर्म का श्रवण और श्रद्धा भी प्राप्त हो गई, किन्तु धर्म में अपनी शक्ति का नियोजन करना और भी कठिन है । सुनते सब हैं, पर आचरण करने वाले कितने मिलते ! आचरण करने वाला हजारों–लाखो में एकाध मिलता । कबीर का यह कथन कितना सही है–'**कोटिन मध्य कोई एक चीन्ह**'– करोड़ों आदमियो में से कोई एक विरल आदमी उस परम तत्त्व से परिचित होता है । लक्ष्य जानने या श्रद्धा करने मात्र से नहीं मिलता। वह मिलता है शक्ति के विस्फोट से । जाने हुए और श्रद्धा किये हुए तत्त्वों में शक्ति का नियोजन करने से वे तत्त्व प्रत्यक्ष होते हैं । यह कार्य अत्यन्त दुर्लभ है ।

मुक्ति के चार घटक तत्त्व हैं । आदमी संयम में अपनी शक्ति का विस्फोट कर कर्मो को क्षीण कर डालता है । यह आत्मा की स्वतन्त्र अवस्था है ।

अनादिकाल से प्राणी दुःख–मुक्ति के लिए छटपटाता रहा है । जब उसने जान लिया कि संसार दुःखमय है तो वह उस दुख से छूटने का मार्ग ढूंढ़ने लगा । मार्ग की खोज के बाद उसने पराक्रम किया और दुःख मुक्त हो गया । यह–दुख मुक्ति की प्रक्रिया है । इसके विभिन्न घटक तत्त्व हैं, सभी तत्त्व वहीं पहुंचाते हैं ।

आत्मा कर्मो के बंधन से बंधी हुई है । कोई भी कर्म अनादि अनंत नहीं होता । कर्म की आदि है । जिसकी आदि उसका अन्त

अवश्यमंभावी है। आदि और अन्त न हो, ऐसा न कभी होता और न कभी होगा । सारे कर्म सावधिक होते हैं । वे बंधते है और अपनी काल अवधि पूरी कर निर्जीण हो जाते है, टूट जाते हैं आत्मा से पृथक हो जाते है। आदमी इन संस्कारो से बंधा हुआ है । ये संस्कार उसे नचा रहे हैं । कभी वह क्रोध करता है, कभी प्रेम व कभी घृणा । कभी वह विनय करता है और कभी वह अविनय । यह सारा संचित कर्म– संस्कारों के कारण होता है । यह सारी परतन्त्रता है इस परतन्त्रता को तोड़ा जा सकता हैं । इसको तोड़ने पर ही भीतरी स्वतन्त्रता मिल सकती है ।

जब आदमी अघ्यात्म की यात्रा पर निकल पड़ता है तब कर्म संस्कार धीरे–धीरे टूटने प्रारम्भ हो जाते हैं । साधक के सामने मुक्त होने के अनेक प्रयोग आते हैं, वह उन्हें देखता है और उन्हें अपनाता है। जिनसे वह इन संस्कारों से छुटकारा पा लेता है। यह अवस्था स्वतन्त्रता की अवस्था है। इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के बहुविध साधन हैं। उनमें एक है चतुरंग मार्ग–ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। इन चार अंगो की आराधना कर व्यक्ति मुक्त हो जाता है । संक्षेप में इसे धर्म की आराधना कहा जा सकता है । धर्म और ये चार अंग पृथक नहीं हैं । चारो में धर्म सन्निहित है और धर्म में चारों समाविष्ट है । महावीर से पूछा गया–भंते ! धर्म की क्या परिभाषा है ? भगवान् ने कहा–वत्स ! सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक् चारित्र है यह धर्म है । दोनो एक हैं । जहां धर्म है वहां यह त्रिवेणी है और जहां यह त्रिवेणी है वहां धर्म है। जब यह त्रिवेणी बढ़ती है तब धर्म वृद्धिगत होता है और जब इस त्रिवेणी का ह्रास होता है तब धर्म की सरिता सूख जाती है तब धर्म के प्रति ग्लानि होती है, अनुरक्ति नहीं रहती तब आत्मशक्ति क्षीण होती है, आस्था क्षीण होती है, अधर्म बढता है ! वृत्तियां सात्त्विक नहीं रहतीं, पाप बढने लगता है ।

मेघ ने पूछा– भंते ! आपने कहा कि जब–जब धर्म के प्रति ग्लानि होती है, तब–तब मनुष्यों का आत्मबल क्षीण होता है । किन्तु

धर्म के प्रति ग्लानि क्यों होती है ? इसका कारण समझाइये।

भगवान बोले – मेघ ! जब दृष्टि सम्यक् होती है, ज्ञान सही होता है और आचार समीचीन होता है, तब धर्म बढ़ता है । जब ये तीनों विपरीत होते हैं, तब धर्म घटता है । जब क्रिया काण्ड मुख्य बन जाते हैं तब आत्मधर्म गौण हो जाता है। क्रियाकाण्ड, तप आदि आत्मधर्म के लिए होते हैं, इसे भूलना नहीं चाहिए। पाल पानी की सुरक्षा के लिए होती है , पर जब पाल की सुरक्षा मुख्य बन जाती है, तब जल की प्राप्ति कैसे होगी ? बाड़ अनाज की सुरक्षा के लिए की जाती है किन्तु जब उसकी सुरक्षा ही नहीं होती है तब अनाज कैसे प्राप्त होगा ? नियम यमों की सुरक्षा के लिए होते हैं । जब नियमों की सुरक्षा ही मुख्य बन जाती और यम का अभाव चिन्ता का विषय नहीं रहता तब धर्म क्षीण होता है । यमों का आचरण सदा–सर्वदा करना चाहिए और नियमों का देश, काल और स्थिति के औचित्य के अनुसार । जब यम गौण और नियम प्रधान बन जाते हैं तब धर्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है । धर्म आत्म शक्ति को बढ़ाता है । धार्मिक व्यक्ति में अहिंसा का तेज होता हैं । वह उस तेजस्विता से हिंसा पर विजय पा लेता है । अहिंसा शांति पथ है। किन्तु आज का आदमी शांति के लिए हिंसा को प्रोत्साहित करता है । हिंसा हिंसा को बढ़ाती है । महावीर कहते हैं– वैर से वैर बढ़ता है । अवैर से वैर शांत होता है । शस्त्र से भय बढ़ता है, अशस्त्र से अभय बढ़ता है । आज शस्त्रास्त्रों का निर्माण शांति के लिए किया जा सकता है पर अशांति ही बढ़ती जा रही है । शस्त्र स्वयं भय का प्रतीक है, वह शांति कैसे लाएगा ? भय से भय बढ़ता है । यदि शस्त्रों से ही शांति होती तो महावीर और बुद्ध स्वयं शस्त्र रखते, शस्त्र निर्माण का उपदेश देते । नानक और दादू भी शस्त्र रखते। पर इनके पास शस्त्र नहीं था। वे सब अभय थे । अभय स्वयं शस्त्र है । वह दूसरो को मारता नहीं, बदलता है । महावीर कहते हैं–वे मूढ़ है जो हिंसा के द्वार शांति का स्वप्न साकार करना

चाहते हैं ।

महावीर, बुद्ध, और गांधी की अहिंसा इसलिए शक्तिशाली बनी कि वे मरना जानते थे, मारना नहीं।

संगमदेव के मन में महावीर को पथच्युत करने की भावना जागी और वह वहां आ पहुंचा, जहां महावीर साधना करते थे । वे अकेले थे, नग्न थे। उसने एक ही रात में महावीर को इतनी भीषण यातनाएं दी की सामान्य आदमी उनसे बीस बार मर जाए । उसने एक सौ पचहत्तर दिनों तक महावीर को अन्न–जल की उपलब्धि नहीं होने दी । महावीर अविचलित रहे । उनका रोम–रोम अहिंसा की भावना से भीगा हुआ था । अंतिम दिन वह महावीर से पराजित हो कर क्षमा–याचना करने आया । महावीर बोले–देवानुप्रिय ! तुमने अपना काम किया और मैंने अपना काम किया । बल्कि तुमने मेरी साधना में सहयोग दिया, मुझे परीक्षा में उत्तीर्ण होने का अवसर दिया मुझे प्रसन्नता है मैं कसौटी पर खरा उतरा, मेरी साधना अधिक तेजस्वी बनी और मैं उसे और अधिक तेजस्वी बना सका । क्षमा मांगने की क्या बात है ! तुम तो मेरे उपकारी हो । मेरे मन में तुम्हारे प्रति न रोष है और न आक्रोश है । फिर क्षमा कैसी ? मुझे एक बात अवश्य कष्ट दे रही है कि मुझे निमित्त बनाकर अनेक प्राणी श्रेय मार्ग पर निकलते हैं, वहां तुम अधोयात्रा पर चल पडे। तुमने विपुल कर्मो का संचय किया है । उन्हे तुम्हें भोगना पड़ेगा, इसकी मुझे चिन्ता है ।

यह है जीवन्त अहिंसा । यह है सम्यक्दृष्टि का दर्शन ।

बुद्ध ने कहा – चाहे मुझे कोई मारे या पीटे, मैं शस्त्र का सहारा नहीं लूंगा। वे निःशस्त्र ही डाकुओ के बीच चले गए । पत्थरों से प्रहार करने वालों के मध्य जा कर खड़े हो गए । वे अभय थे । एक बार एक व्यक्ति ने बुद्ध को जहर दे डाला । जहर का असर होने लगा । बुद्ध को ज्ञात हो गया कि किस व्यक्ति ने जहर मिश्रित भोजन दिया है । उन्होने सभी शिष्यों को एकत्रित कर कहा– भिक्षुओं ! वह व्यक्ति बडा भाग्यशाली है जिसने मुझे अन्तिम भोजन

दिया है। अब मुझे कभी भोजन नहीं करना पड़ेगा । उस व्यक्ति ने मुझे शरीर से मुक्त करने का उपाय किया और मेरी निर्वाण–प्राप्ति में सहायक बना है । वह मेरा परम उपकारी है । उस पर रोष मत करना ।

ऐसी बात कौन कह सकता है ! क्या हिंसा से ओतप्रोत व्यक्ति का ऐसा विचार हो सकता है ! जिसकी अहिंसा और मैत्री जीवन्त है, वही ऐसा कह सकता है, सोच सकता है ।

महावीर कहते हैं–

**स्वकृतं विद्यते दुःखं, स्वकृतं विद्यते सुखम् ।**
**अबोधिनार्जितं दुःखं, बोधिना हि प्रलीयते ।। ११/३७**

मेघ ! मैं तुझे एक महत्वपूर्ण बात बता रहा हूं । दुःख और सुख अपना किया हुआ होता है । अबोधि – अज्ञान से दुःख अर्जित होता है और बोधि– ज्ञान से उसका नाश होता है । अज्ञान सभी दुःखो का जनक है । वह स्वयं सबसे बड़ा दुःख है । अज्ञानी को श्रेय और अश्रेय का ज्ञान नहीं होता । वह बेचारा है, दया का पात्र है । वह कैसे भवसागर को पार कर पाएगा !

बुद्ध कहते हैं – सब मलों में अज्ञान परम मल है । इस मल को धोकर पवित्र हो जाओ । गीता कहती है–प्राणियों का ज्ञान अज्ञान से आच्छन्न है, इसलिए वे मूढ़ होते हैं । सारा दुःख अज्ञान से अर्जित है । कोई नही चाहता कि दुःख मिले । पर जाने अनजाने में सभी दुःख के गर्त में उतर रहे हैं । दुःख ने मनुष्य को नहीं पकड़ा है, किन्तु मनुष्य ने दुःख को पकड़ रखा है । जिस दिन यह तथ्य समझ में आ जाएगा, उस दिन वह उसे छोड़ देगा । दुःखी व्यक्ति ही दूसरो को सताने का प्रयत्न करता है । महावीर, बुद्ध आदि ऋषियो ने कभी किसी को नहीं सताया, क्योंकि वे परम सुख में थे। आध्यात्मिक होने का अर्थ है, आप सुखी बन जाएं, दूसरो की चिन्ता छोड़

दे। सुख स्वभाव है । दुःख को छोड़ दें, सुख उतर आएगा । सुख प्राप्ति की मांग करना या उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करना निरर्थक है। दुःख के विनाश का अर्थ है सुख की प्राप्ति । सुख दुःख अपना किया हुआ होता है । दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि आत्मा की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का कर्ता स्वयं व्यक्ति है । दूसरो को इसका घटक मानना भ्रान्ति है । हम अभ्यास करें परतन्त्रता को तोड़ कर स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का । जब यह अभ्यास बढ़ेगा, धर्म की आराधना बढ़ेगी, तब आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगी ।

# तप है अन्तर्यात्रा

आत्मा के तीन प्रकार हैं–

१. बहिरात्मा,

२. अन्तरात्मा,

३. परमात्मा ।

जिस व्यक्ति की चेतना बाहर की ओर प्रवाहित रहती है, जो बहिर्मखी होता है, वह बहिरात्मा है । जिसकी चैतन्यधारा बाहर से हट कर भीतर की ओर प्रवाहित होती है, जो अन्तर्मुखी है, होता है, वह परमात्मा है । जो आत्मा अध्यात्म की यात्रा सम्पन्न कर अपने स्वरूप में अधिष्ठित हो जाती है, वह परमात्मा है। चेतना का एक प्रवाह है । अवस्था–भेद से उसके ये तीन स्वरूप बन जाते हैं ।

तप एक साधन है, बाहर से हट कर भीतर प्रवेश करने का । यह अन्तर्यात्रा का माध्यम है । शंकराचार्य से पूछा गया–तप का लक्षण क्या है ? उन्होंने कहा –**स्वधर्मे वर्तितव्यं तपः** – अपने धर्म में प्रवृत्त होना तप है । अन्यान्य साहित्य में योग की जो चर्चा उपलब्ध होती है, जैन साहित्य में उसी योग को तप नाम से अभिहित किया गया है।

मेघ ने महावीर से पूछा–

**किं ज्ञेयं किं च हेयं, स्यादुपादेयञ्च किं विभो !**

**शाश्वते नाम लोकेस्मिन्, किमनित्यञ्च विद्यते ? १२/१**

प्रभो ! इस शाश्वत जगत् में ज्ञेय, हेय और उपादेय क्या है ? अशाश्वत अनित्य क्या है ?

महावीर ने इन सभी प्रश्नों का उत्तर बहुत विस्तार से दिया है। साधना की दृष्टि से यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत अध्ययन में बहिरात्मा से परमात्मा बनने की सारी प्रक्रिया समझाई गई है और सृष्टि संरचना के तत्त्वों की जानकारी भी दी गई है ।

महावीर कहते हैं–मेघ ! यह जगत् जो हमें दिखाई दे रहा है, वह जिन तत्त्वो से निर्मित है, वे सारे तत्त्व ज्ञेय हैं, जानने योग्य हैं । उनको जानना आवश्यक है । विश्व–व्यवस्था के घटक छह द्रव्य हैं– अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय । इनसे संसार के स्वरूप का बोध होता है । संक्षेप में कहे तो यह सारा विश्व चेतन और अचेतन की संघटना है । इनके अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है । शेष द्रव्य इन्ही का विस्तार हैं। मूल है–जीव और अजीव, चेतन और अचेतन। किन्तु मोक्ष के साधन के रहस्य को समझाने के लिए इनके नौ भेद किए हैं–जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष । इन सबका समावेश जीव और अजीव, या जड़ और अचेतन में हो जाता है । अचेतन के संयोग से चेतन जीव इस संसार में अनेक रूपों को धारण करता है, जन्म–मरण के चक्कर में घूमता है । जब अचेतन कर्म–पुद्‌गल आत्मा–चेतन से सर्वथा विलग हो जाते हैं तब आत्मा मुक्त हो जाती है । ज्ञेय, हेय, और उपादेय की दृष्टि से नव तत्त्व ज्ञेय हैं । उनमें अजीब, पुण्य, पाप आश्रव और बंध–ये पांच हेय और जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये चार तत्त्व उपादेय है । आत्मा मन, वाणी और शरीर से प्रवृत्ति करती है, यह आश्रव है, कर्मो के आगमन का द्वार है । इन प्रवृत्तियों से कर्म–पुद्‌गल आकृष्ट होते हैं और आत्मा से संबद्ध होते हैं । यह बंध अवस्था है । शुभ–अशुभ रूपों में जब वे उदय में आते हैं तब शुभ का फल शुभ और अशुभ का फल अशुभ होता है । यही पुण्य और पाप हैं । आत्मा की स्वतन्त्रता में बाधक होने के कारण ये सब हेय हैं ।

भगवान ने आगे कहा–

**निरोधः कर्मणामस्ति, संवरो निर्जरा तथा ।**
**कर्मणां प्रक्षयश्चैषोपादेयदृष्टिरिष्यते ।। १२/६**

कर्म का निरोध संवर है। कर्मों का आत्मा से विलग हो जाना, निर्जरा है। निर्जरा आत्मा की शुद्धि है। मोक्ष है समस्त कार्यों से मुक्त हो जाना। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्र अवस्था है। ये तीनों–संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय हैं ।

मेघ ने पूछा–भंते ! क्या योग, समाधि,गुप्ति और समता एक ही हैं या इनकी भिन्न भाषाएं हैं ?

महावीर ने कहा –

**आत्मलीनं मनोमूढं, योगो योगिभिरिष्यते ।**
**मनोगुप्ति समाधिश्च, साम्यं सामायिकं तथा ।।१२/७**

मेघ ! जो मन आत्मलीन होता है, अमूढ़ होता है योगियों ने उसे ही योग कहा है । मनोगुप्ति, समाधि, समता, सामायिक–ये सब योग के ही विभिन्न रूप हैं । मूढ़ मन विक्षिप्त होता है । वह कहीं ठहरता नहीं है । उसका अन्तर् में प्रवेश नहीं होता । जागृत मन और आत्मा में लीन मन ही योग की भूमिका पर आरूढ़ होता है । इसको मनोगुप्ति आदि कुछ भी कहा जा सकता है ।

योग और सामायिक में महावीर अन्तर नहीं मानते । जो योग है वह सामायिक है और जो सामायिक है वह योग है। महावीर की सामायिक अनूठी है । वह अपने से जोड़ने की प्रक्रिया है । सामायिक के अभ्यास से व्यक्ति समता में प्रतिष्ठित होता है । राग–द्वेष से ऊपर उठ जाता है। वह हर्ष और विषाद में, जन्म और मरण में सम रहता है । अपना संतुलन नही खोता। यह है सामायिक

का परिणाम । कितनी सुन्दर है सामायिक की प्रक्रिया । किन्तु कुछ आदमी उसको रूढ़ कर उसकी आत्मा के स्पर्श से दूर रह जाते हैं। सामायिक करने वाले के जीवन में यदि समता फलित न हो, तो दस–दस, बारह–बारह सामायिक करने का प्रयोजन क्या हो सकता है ? सप्राण सामायिक से समता अवश्य फलित होती है । सामायिक का समुचित अभ्यास व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाता है । सामायिक करे और योग से हटे, यह आश्चर्य है । असका अर्थ है कि सामायिक को गलत समझा है । सामायिक को क्रियाकाण्ड के रूप में किया जा रहा है । उसकी बाह्य विधि का पूरा पालन किया जा रहा है, पर उसकी आत्मा का स्पर्श नही हो रहा है । उसकी आत्मा का स्पर्श हो तो योग से विलग रहना नहीं हो सकता है । सामायिक और योग एक है ।

महावीर कहते है–

**ऐकाग्यं मनसश्चाद्ये, भवेच्चान्ते निरोधनम् ।**
**मनः समितिगुप्त्योश्च, सर्वो योगो विलीयते ।। १२/८**

ध्यान की दो अवस्थाए होती हैं–एकाग्रता और निरोध । प्रारम्भिक दशा में मन की एकाग्रता होती है और अंतिम व्यवस्था में उसका निरोध होता है । मन के सम्यक् प्रवर्तन(समिति) और उसके निरोध (गुप्ति) में सारा योग समा जाता है ।

ध्यान की पहली प्रक्रिया में मन का निरोध नहीं हो सकता । यह अन्तिम चरण में होता है । ध्यान का पहला चरण है – एकाग्र होना। इसलिए श्वास, प्राणधारा, चैतन्य केन्द्र आदि का सहारा लिया जाता है । श्वास और प्राण के साथ चित्त को जोड़ कर हम एकाग्रता का अभ्यास करते है। यह योग का पहला चरण है । जब अन्तिम चरण में चित्त का सर्वथा निरोध हो जाता है तब आत्मलीनता आती है, स्व के साथ युक्ति हो जाती है । यही अध्यात्म है ।

**मोक्षेण योजनाद् योगः समाधिर्योग इष्यते ।**
**स तपो विद्यते द्वेधा, बाह्योनाभ्न्तरेण च ।। १२/६**

जो चित्त को मोक्ष से जोडता है, आत्मा से जोडता है उसे योग कहते हैं। समाधि योग है। उस योग को तप भी कहते हैं। योग भी तपाता है और तप भी कर्म–शरीर को तपाता है। आत्मा को समस्त कर्मों से मुक्त करता है, विजातीय तत्त्व से दूर करता है। तप और योग दोनों का कार्य एक है।

वह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। योग के आठ अंगों को भी महर्षि पतञ्जलि ने बाह्य और आभ्यन्तर इन दो भागों में विभक्त किया है। बाह्य तप तप की परिपुष्टि में निमित्त बनते हैं, यह केवल देह को सताने या प्रपीडन के लिए नहीं है, शरीर को कष्ट देना गौण है मुख्य है सूक्ष्म शरीर को जीर्ण करना। उससे साधक की शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक शुद्धि होती है। यदि शुद्धि न हो तो फिर केवल कष्ट होता है। शुद्धि होने से ही साधना में आगे गति होती है।

बाह्य तप के छह प्रकार है– अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति संक्षेप, रस परित्याग, काय–क्लेश और प्रतिसंलीनता। इनमें प्रथम चार भोजन से संबंधित है। साधना में भोजन का विवेक अत्यावश्यक है। भोजन का आनन्द और साधना का स्वाद दोनों संभव नहीं है। कवि ने चींटी को संबोधित कर बडी मार्मिक बात कही है। चींटी चावल मुंह में रखकर जा रही थी। दाल का टुकडा मिल गया। वह उसे भी मुंह में रख कर ले जाना चाहती थी। मुंह छोटा था एक को रखे तो दूसरा गिर जाता और दूसरे को रखे तो पहला गिर जाता था। तब इस दृश्य को देखते हुए कवि ने कहा– चींटी चावल ले चली, बिच में मिल गई दाल। दो – दो बातां नां हुवे, एक राख एक डाल।।

(१) अनशन – इसमें आहार का त्याग होता है। एक उपवास से लेकर छह महीनो का तप इसके अन्तर्गत है।

(२) अवमौदर्य – भूख से कम भोजन करना, कम पदार्थो का उपयोग करना तथा क्रोध आदि कषायों का अल्पीकरण करना, वस्त्रादि उपकरणों में कमी करना।

(३) वृत्तिसंक्षेप – विशेष संकल्प पूर्वक भोजन करना।

(४) रस परित्याग – दूध, दही, घृत, मिठाई आदि रसों का नित्य सेवन नहीं करना, अतिमात्रा में सेवन नहीं करना, तथा रसों का संयम करना।

(५) काय–क्लेश – शरीर को साधना के योग्य बनाना, कष्ट सहिष्णु बनाना। उसके चार रूप हैं।

१. आसन – पद्मासन, वीरासन आदि विविध आसन।

२. आतापना – सूर्य की रश्मियों का ताप लेना, सर्दी में शीत को सहना, निर्वस्त्र रहना।

३. विभूषावर्जन – किसी प्रकार की साज–सज्जा न करना, श्रृंगार नहीं करना।

४. परिकर्मवर्जन – शरीर के प्रति उदासीन, उपेक्षित रहना।

बाह्यतप का यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग है।

इस दुश्चर और दुराराध्य तप के विधान को देखकर अनेक लोगों के मन में यह सहज प्रश्न खड़ा हो सकता है कि साधना के लिए इतने कठोर मार्ग की क्या आवश्यकता है ? क्या सरलता से सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता, मेघ के मन में भी यह प्रश्न उभर आया, उसने पूछा–

**सर्वदर्शिं स्त्वया धर्मः, धोरोऽसौ प्रतिपादितः।**
**दुःखविच्छित्तये सोयं, तत्र दुःखं किमिष्यते ?**

धर्म दुःख नाश के लिए है, फिर उसमें दुःख की चाह क्यों ? हे प्रभो! आपने इस घोर दुश्चर धर्म का अतिपादन कैसे किया ? मेघ भगवान के अभिप्राय से अनजान रहा, भाव को समझ नहीं सका।

–मेघ ! तूने मेरे धर्म का मर्म नहीं समझा । जो पुरुष मर्म को नहीं जानते वे सनातन सत्य की हत्या कर डालते हैं । धर्म शरीर

को कष्ट देने के लिए नहीं, किन्तु सत्य की उपलब्धि के लिए है । अहिंसा के अभ्यास के बिना सत्य उपलब्ध नहीं होता । जो चेतना विषयों में आसक्त होती है वह हिंसा की ओर दौड़ती है । सत्य की उपलब्धि विषयाभिमुखता से कैसे होगी ? इन्द्रियों, मन और शरीर की अपेक्षाओं की पूर्ति से सत्य–पथ का दर्शन होता तो वह आज तक हो जाता । विषयाभिमुखता की यात्रा सत्य की विरोधी है । हमें स्वभाव की ओर चलना होगा । मैंने जो कुछ कहा है, वह सत्य की दिशा में अग्रसर होने के लिए कहा है । हमें उल्टा चलना होगा। गंगा को यदि गंगोत्री के दर्शन करने हैं तो उसे समुद्र की ओर बहना छोड़कर गंगोत्री की ओर बहना होगा । मेघ ! मैंने उसे ही तप कहा है जो अज्ञानपूर्ण क्रियाओं से दूर हो, जिससे चित्त क्षुब्ध न हो, विचार क्लेशपूर्ण न हों और ध्यान आर्त्त न हो । अब तुम सोचो–यह घोर कैसे होगा? व्यक्ति अपनी शक्ति को तोलकर इस मार्ग पर नियोजित होगा । जो अज्ञानपूर्ण तप करते हैं, विविध प्रकार से शरीर को यातना देते हैं, वे धर्म के गौरव का संवर्धन नहीं करते । मैंने धर्म की यात्रा का पहला चरण निर्दिष्ट किया है–विवेक। जहां विवेक है, वहां धर्म के विकास की सारी संभावनाएं हैं । प्रश्न होता हैं, उपवास करने से सत्य की उपलब्धि होती है तो क्या निरंतर भोजन करने से सत्य प्राप्त नहीं होता ? इसी प्रकार ऊनोदरी – कम खाने से सत्य मिलता है तो क्या भरपेट खाने से वह नहीं मिलता? रसों के परित्याग से सत्य प्राप्त होता है तो क्या उनके सेवन से हम सत्य से वंचित रह जाते है ? ये प्रश्न हैं । इनको हम योग की कसौटी पर कसें।

सभी ऋषि–महर्षियों ने साधना काल में तपोयोग का आलंबन लिया है। वे यह स्वीकार करते हैं कि उपवास आदि साधनो से चेतना के प्रवाह में परिवर्तन होता है । इडा और पिंगला का प्रवाह परिवर्तित होता है। सुजुम्ना का द्वार खुलता है यह अवस्था आत्मौपलब्धि या ध्यान की है ।

हमारे शरीर में मुख्यतः तीन नाड़ियां हैं– इड़ा, पिंगला और

सुषुम्ना। इडा मनस्तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है और पिंगला प्राणतत्त्व का । मन का संबंध ज्ञानेन्द्रियों से है और प्राण का कर्मेन्द्रियों से । प्राण के द्वारा हम जीवित रहते हैं और मन के द्वारा सारा बाह्य ज्ञान करते हैं । प्राण और मन का गहरा संबंध है । जहां प्राण है वहां मन है, और जहां मन है वहां प्राण है । एक का निरोध करने पर दूसरे का निरोध स्वतः हो जाता है।

हमारे मस्तिष्क की सक्रियता में इन दोनो का हाथ है । एक वैज्ञानिक ने प्रयोग करके पाया कि–दिमाग के अन्दर दोनों गोलार्द्धो में से एक काम करता है तो दूसरा बन्द रहता है और जब दूसरा काम करता है तो पहला बन्द रहता है । स्वर शास्त्र के विज्ञाताओं की यह अभूतपूर्व खोज थी।

हजारों वर्ष पूर्व इसके रहस्य को उन्होनें जान लिया था। इडा और पिंगला नाडी के चलने से यह कार्य होता है। दोनो स्वरों का एक साथ चलना सुषुम्ना है। इसमें मन सहज ही शांत रहता है, संकल्प विकल्प रूक जाते हैं। मस्तिष्क के गोलार्द्ध भी शान्त रहते हैं।

जब आदमी इडा और और पिंगला के प्रवाह में रहता है तब उसमें चचंलता रहती है, राजसिकता और तामसिकता रहती है। जब तामसिकता है तो अहिंसा को कोई स्थान नहीं मिलता। अहिंसा के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि सुषुम्ना पर हमारा अधिकार हो । योग और अध्यात्म की साधना का समय है सुषुम्ना। इडा और पिंगला साधना का समय नहीं है । इसलिए योगी लोग साधना के प्रारम्भ से पूर्व सुषुम्ना स्वर को चलाते हैं। वे इडा और पिंगला स्वर का अवरोध करते है।

ये दोनो स्वर चंचलता के वाहक हैं। सुषुम्ना स्थिरता लाती है । इसमें साधक को स्थिरता का विशेष प्रयत्न नहीं करना पडता। स्थिरता स्वयं सध जाती है । यह प्रकृति का नियम है। सुषम्ना का समय सन्ध्या का समय है । सुषुम्ना को संध्या माना गया है ।

कहा जाता है कि सुषुम्ना स्वर के समय केवल स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि करने चाहिए, अन्य कार्य नहीं।

भगवान महावीर ने तपोयोग के अभ्यास व उसमें निरत होने के लिए संतुलन का विवेक दिया है। कहीं कोई हठाग्रह नहीं है। उनके विवेक को न समझने के कारण यह भ्रम उत्पन्न हुआ है। उनका आग्रह केवल कषाय–राग, द्वेष को क्षीण करने में रहा है, कषाय की वृद्धि में नहीं। अतः वे स्पष्ट कहते हैं –

**बलं थामं च पेहाए, सद्धा मारोग्ग मप्पणो।**
**श्वेत्तं कालं च विण्णाय, हप्पाणं णिजुंजए।।**

साधक को तपोयोग में प्रवृत्त होने से पूर्व अपनी क्षमता, शारीरिक शक्ति, मानसिक बल, श्रद्धा और स्वास्थ्य को तोल लेना चाहिए, देख लेना चाहिए तथा क्षेत्र (स्थान) व काल (समय) का भी परिज्ञान कर लेना चाहिए। इन सबका अवलोकन करके ही अपने मन/आत्मा को उसमें नियुक्त करना चाहिए। यह एक मध्यम मार्ग का ही दर्शन है।

कायक्लेश देह को सताने के लिए नहीं, अपितु कष्ट सहने की क्षमता को बढ़ाने के लिए है। शक्ति का अवतरण शरीर के माध्यम से होता है, वह सशक्त न हो तो उस विद्युत प्रवाह को झेल नहीं सकता। परिपूर्ण ज्ञान के प्रस्फुटन में हरेक शरीर योग्य नहीं होता। उसकी योग्यता विशिष्ट देह में ही होती है। सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि ऋतुओं के परिवर्तन को सह कर उसे उसी रूप में ढालने के लिए काय–क्लेश का प्रयोग है। आसनों का अभ्यास भी इसी के अन्तर्गत है। यह केवल जैन धर्म में ही मान्यता प्राप्त नहीं है। अन्य योगविदों तथा धर्म–संप्रदायों में भी मान्य रहा है।

एक बार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–भंते ! आपने कायक्लेश का विधान क्यों किया ? भगवान् बोले – गौतम ! सुख सुविधा की चाह से आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति से चैतन्य मूर्च्छित होता है। मूर्च्छा धृष्टता लाती है । धृष्ट व्यक्ति विजय का पथ नहीं पा सकता । इसलिए मैंने कायक्लेश का विधान किया है ।

प्रतिसंलीनता बाह्य तप का एक प्रकार है । यह इन्द्रियो को अन्तर्मुखी बनाने की प्रक्रिया है । जो प्राणधारा इन्द्रियों को बाहर के पदार्थो से जोड़ रही है, उस प्राणधारा को रोकना चाहिए। प्राणधारा बाहर से जुड़े । जब इद्रियां बाहर के पदार्थो से संश्लिष्ट नहीं होगी तब वे भीतर बहने लगेंगी। यहीं से अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है।

आन्तरिक तप के छह प्रकार हैं–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ।

जब आदमी अन्तर्यात्रा पर निकल पड़ता है तब वह अपने दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करता है, प्रतिक्रमण करता है और आलोचना करता है, गुरु के समक्ष दोषों को प्रकट करता है। यह विशुद्धि की प्रक्रिया है। भीतर की यात्रा करने पर अहंकार धुलता है। जब वह धुलता है तब नियम स्वतः प्रकट होता है। अहंकार विनम्रता का अवरोधक है। विनय आत्मा का गुण है । किसी के प्रति विनय करना, हाथ जोड़ना आदि यह औपचारिकता है । वास्तव में विनय स्वयं का गुण है, स्वयं के प्रति होता है । वैयावृत्य – सेवा में वही व्यक्ति प्रवृत्त होता है जो विनम्र होता है । सेवा स्वयं की शुद्धि के लिए, स्वयं का धर्म समझकर–**धम्मोत्ति किच्चा**– करनी चाहिए । दूसरो की सेवा एक उपचार मात्र है । वास्तव में सेवा स्वयं की होती है । आत्म साक्षात्कार के लिए होती है । स्वाध्याय का प्रचलित अर्थ है–पढ़ना, शास्त्र पढ़ना आदि । किन्तु वास्तव में अपने–आप को पढ़ाना स्वाध्याय है । भीतर क्या हो रहा है ? उसे पढ़ना, देखना । जब ऐसा स्वाध्याय होगा तब व्यक्ति अपने भीतर उठने वाली तरंगो को पढ़ सकेगा, छोड़ सकेगा, विचारो को पढ़ेगा–छोड़ेगा। जो–जो तरंगे चंचलता पैदा करती हैं, उनको वह छोड़ता जाएगा। ध्यान आन्तरिक तप है। पहले एकाग्रता का अभ्यास होगा और फिर निरोध । इस प्रक्रिया से विपुल कर्मो का क्षय होता है। तपोयोग का अन्तिम घटक है–व्युत्सर्ग। यह महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। महावीर कहते हैं–अब छोड़ने की तैयारी होती है सब कुछ विजातीय को छोड़ देना। उपाधि–वस्त्र–पात्र,

भक्तपान तथा कषायों का परित्याग करना व्युत्सर्ग है । इसके लिए 'समाधि' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है । समाधि का अर्थ है–सभी वस्तुओं को एक किनारे रख कर केवल अपने को देखना। समाधि में सब छूट जाते हैं। बुद्धि, मन और शरीर – सब त्यक्त हो जाते हैं। साधक केवल अपने अस्तित्व के साथ जुड़ता है। इस स्थिति में आत्मा से कर्म विलग होते हैं। यह व्युत्सर्ग की प्रक्रिया है ।

जब आदमी ध्यान–समाधि में होता है तभी उसको अपने अस्तित्व का बोध होता है, अपने–आप की प्रतिति होती है । महावीर ने सम्यक्‌दर्शन के जो पांच गुण बतलाए हैं– शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। आस्तिक्य का अर्थ है–अपने अस्तित्व के प्रति श्रद्धा, अपने आप में होने का अनुभव । जब आदमी अपने आप का अनुभव कर लेता है, सम्यक्‌दर्शन प्राप्त कर लेता है, फिर उसे अपने अस्तित्व की श्रद्धा में कोई डिगा नहीं सकता। सम्यक्‌दर्शन का बहुत महत्व है महावीर कहते हैं–सम्यग्दर्शनसंपन्नः **श्रद्धावान्** योगमर्हति–योग का अधिकारी होता है जो सम्यक्‌दृष्टि से सम्पन्न है, आस्तावान् है । वही योगी बन सकता है । जिसकी दृष्टि सही नहीं है, बहिर्मुखी है, विषयो के प्रति आसक्ति रहती है, वह योग की साधना क्या करेगा ? वह योगी कैसे होगा ? केवल वेष या जटा ध ारण करने से कोई योगी नहीं हो सकता । योगी वह होता है जिसकी दृष्टि निर्मल है, पवित्र है और सद्‌गुरु की वाणी पर श्रद्धा करता है । जो श्रद्धा ऊपरी होती है, बाह्य होती है, वह डोलती है। वह स्थिर नहीं होती। महावीर कहते है– जब आदमी ध्यान के बाद समाधि में अपनी चेतना का दर्शन करता है, तब सत्य में उसकी श्रद्धा होती है । वहां फिर अपने आप शम–शांति आ जाएगी, कषाय शान्त हो जाएंगे । संवेदन पैदा होगा, निर्वेदन–वैराग्य आएगा और कल्याण से व्यक्ति ओत–प्रोत हो जाएगा । तपोयोग अन्तर्यात्रा है । इसे हम हृदयंगम करें। बाह्य तप और आन्तरिक तप का योग ही वास्तव में

तपोयोग का साधन है । इसी के द्वारा हम अन्तर्यात्रा कर सकते हैं, सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं।

भावना का अर्थ है – वासित करना। आयुर्वेद में औषधियों को भावित करने की परम्परा रही है। चौसठ प्रहरी, सहस्त्र पुटी, लक्ष पुटी आदि दवाओं का प्रयोग प्रचलित था, है। जिससे औषधि के गुण – धर्मो में बड़ा परिवर्तन हो जाता है। उनकी शक्ति बढ़ जाती है। वैसे ही साधना के क्षेत्र में चित्त/मन को भावित करने से मनुष्य का व्यक्तिव रूपान्तरित हो जाता है। द्रोणाचार्य की प्रतिमा स्थापित कर, गुरू के रूप में छात्र घर पर शर–संधान में अर्जुन को भी परास्त करने वाले एकलव्य का यह कमाल केवल भावना से ही हुआ। भावना से ही कीट भ्रमर बन जाता है। भावना की शक्ति असीम है। ऑटोसजेशन भावना का ही एक रूप है। ''भावना भवनाशिनी।'' संसार–भ्रमण का नाश करने वाली भावना ही है। साधक के लिए भावना/अनुप्रेक्षा का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिनके द्वारा वह अपने आपको पूर्ण सक्षम व आत्मनिष्ठ बना सकता है, सत्य का साक्षात्कार कर सकता है, असत्य से तथा मिथ्यात्व से मुक्त हो सकता है। भावनाएँ बारह हैं, सोलह भी हैं, तथा अन्य भी अनेक जैसा हम बनना चाहें बनाई जा सकती है।

१. अनित्य भावना – संसार अनित्य है, यह चिन्तन करना।

२. अशरण भावना – कोई शरण नहीं है।

३. भव भावना – जीव संसार में भ्रमण करता है। यह चिन्तन करना।

४. एकत्व भावना – मैं एक हूं, अकेला हूं यह चिन्तन करना।

५. अन्यत्व भावना – मैं देह से भिन्न हूं, यह चिन्तन करना।

६. अशौच भावना – शरीर अपवित्र है, यह चिन्तन करना।

७. आश्रव भावना – आत्मा कर्मो का आकर्षण करती है, यह चिन्तन करना।

८. संवर भावना –कर्मों का निरोध हो सकता है, यह चिन्तन करना।

९. निर्जरा भावना – तप के द्वारा कर्मो का निर्जरण होता है, कर्म आत्मा से पृथक् होते हैं, यह चिन्तन करना।

१०. धर्म भावना – धर्म मुक्ति का मार्ग है, यह चिन्तन करना।

११. लोक भावना – लोक के स्वरूप का चिन्तन करना।

१२. बोधिदुर्लभ भावना – बोधि (सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की प्राप्ति) दुर्लभ है, ऐसा चिन्तन करना।

१३. मैत्री भावना – सब मेरे मित्र है, ऐसा चिन्तन करना।

१४. प्रमोद भावना – गुणीजनों में अनुराग रखना।

१५. करूणा भावना –दुःखी जीवों के प्रति संवेदन सहानुभूति रखना तथा दुःखो से मुक्त हो, यह चिन्तन करना।

१६. मध्यस्थ भावना – विपरीत आचरण करने वालों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना।

आदमी के जीवन में जितने विपर्यास और भ्रान्तियां है, उनका अपगमन भावना के द्वारा हो सकता है । आदमी अनित्य को नित्य मानता है, अशरण को शरण,अत्राण को त्राण मानता है । ये सारी भ्रान्तियां है । आदमी मानता है कि माता–पिता शरण हैं, स्त्री–पुत्र शरण हैं, धन शरण हैं, ये सब त्राण देने वाले हैं, कष्ट दशा में मेरे रक्षक है – यह भ्रान्त धारण है । ये सारे व्यवहारिक शरण या रक्षक भले ही हों, पर वास्तव में त्राण देने में असमर्थ हैं ।

हमारी अनित्य में नित्यबुद्धि होती है तब अनेक दुःख पैदा होते है। हम प्रतिदिन देखते है, प्रातः काल फूल खिलता है और सायं होते–होते वह कुम्हला जाता है, विरूप हों जाता है । खिलते समय जो सुषमा थी, सौन्दर्य था, वह नहीं रहता । यह उसकी अनित्यता है । बच्चा जन्मता है, बड़ा होता है, बूढ़ा होता है और मर जाता है। जन्मना नित्य नहीं है । सचेतन हो या अचेतन–किसी भी पदार्थ की पर्यायें नित्य नहीं होती, अपरिवर्तनीय नहीं होती । ये सब अनित्य है। जो नित्य है वह नहीं बदलता । पर अतिपरिचय के कारण हम अनित्य को नित्य मानकर दुःख पाते हैं । अनित्य भावना से मन को

भावित कर हम दुःखों की तीव्रता से बच सकते है। अनित्य भावना की भाषा यह है—जो अनित्य है उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। नित्य कभी नही बदलता है। यह भावना पुष्ट होती है तब पदार्थ के विनष्ट हो जाने पर भी व्यथा नहीं होती। पदार्थ के प्रति जो आकर्षण है वह भी टूट जाता है, आसक्ति कम हो जाती है। मनुष्य अत्राण में त्राण की कल्पना करता है। कौन दे सकता है त्राण ! जब मौत आती है, रोग घेरा डालता है, तब कौन बनता है रक्षक ! कोई नहीं। इस सृष्टि में त्राण देने की शक्ति किसी में नहीं है। सब अक्षम हैं ।

अनाथी मुनि की आंखो में भयकंर वेदना होने लगी । उस असह्य वेदना ने सारे पारिवारिकजनों को अस्त—व्यस्त कर डाला । नानाविध उपचार किये । धनी पिता के पुत्र थे वे । उपचार में कोई कमी नहीं रही, पर सभी उपचार व्यर्थ गए। अनाथी ने मन ही मन भावना की, संकल्प किया यदि मेरी व्यथा रात भर में ठीक हो जाएगी तो मैं अन्तर्यात्रा में निकल पडूंगा। रात के बीतते—बीतते वेदना भी बीत गई, ठीक हो गई। सुबह वे उठे और श्रमण बनने के लिए घर से निकल पड़े। घरवालों ने पूछा कि कहां जा रहे हो ! वे बोले — मैं इस अत्राण की दुनिया में रहना नहीं चाहता। मैं अर्हत् की शरण में जा रहां हूं , धर्म की शरण में जा रहा हूं, जहां वास्तविक त्राण है ।

आचार्य भिक्षु राजनगर में चातुर्मास कर रहे थे । अन्तर्द्वन्द्व मन की चरम सीमा पर था । एक दिन रात को भयंकर ज्वर हुआ । वे विचलित हो उठे अपने अन्तर्द्वन्द्व से । उन्होने संकल्प किया—यदि रात—रात में ज्वर उतर जाएगा तो मैं सत्य का यथार्थ कथन करूंगा। रात बीती । ज्वर शांत हो गया और उन्होंने श्रावकों के समक्ष उस सत्य का उद्घाटन किया, जो सत्य उनकी दृष्टि में था।

**संस्काराः स्थिरतां यान्ति, चित्तं प्रसादमृच्छति ।**
**वर्द्धते समभावोऽपि, भावनाभिर्धुवं नृणाम् ।। १२/५१**

भावना के अभ्यास से संस्कार स्थिर बनते हैं, चित्त प्रसन्न होता

है और समभाव की वृद्धि होती है ।

भावना सत्य तक पहुंचाने, सत्य का साक्षात् अनुभव कराने का अमोघ मन्त्र है । इन भावनाओं का प्रत्यक्ष लाभ हम अपने दैनंदिन के व्यवहार में देख सकते हैं। जब आदमी एकत्व भावना से भावित होता है तब उसकी चेतना इतनी निर्मल बन जाती है कि वह किसी का अनादर नहीं कर सकता, किसी से घृणा नहीं कर सकता, किसी के कटुवचन से प्रहत नहीं हो सकता। जब आदमी अशरण भावना से भावित होता है तब उसकी अभिमुखता पदार्थो से हटकर अध्यात्म की ओर हो जाती है। संसार उसे झूठ और प्रपंच मात्र अनुभव होने लगता है। कोई अपना प्रतीत नहीं होता केवल अपनेपन का प्रतिभास होता है। अन्याय, अनीति और अप्रमाणिकता से स्वतः दूर हो जाता है ।

मैंने एक घटना पढ़ी थी । बनारस में एक सन्त रहते थे । वे उपदेश करते थे। हजारों लोग प्रवचन सुनने आते थे। प्रवचन देते–देते सन्त ऊब गए। एक दिन उन्होने अपने श्रोताओं से कहा–अब मैं उपदेश देने से विरक्त हो रहा हूं । भक्तों ने आग्रह किया कि रोज आप उपदेश देना न चाहे तो ठीक है, पर कभी–कभी उपदेश दिया करें, जिससे कि हमारा कल्याण हो । संत बोले इतना आग्रह है तो मैं वर्ष में एक बार प्रवचन करूंगा । भक्त मान गए। नहीं से कुछ तो अच्छा है। वर्ष बीता । प्रवचन का दिन आया। हजारों लोग एकत्रित हो गए। एक चांडाल भी आया प्रवचन सुनने के लिए। संत सभामण्डप में आए और सभा को संबोधित करके कहा –'दूरं दूरं दूरं' और चले गए । प्रवचन इन तीनों शब्दों में समाप्त हो गया। सभी सुनने वालों ने सोचा कि इस चांडाल को देखकर संत ने कहा है– 'दूरं दूरं दूरं'। सभी ने इन शब्दों का अर्थ अपने अपने ढ़ंग से निकाला । चांडाल ने भी शब्द सुने और उनको पकड़ लिया। एक वर्ष बीता । प्रवचन का दिन आया । सभी एकत्रित हुए। वह चांडाल भी आया । संत ने पूछा– उस दिन के शब्द 'दूरं' से किसने क्या

सीखा, बताएं ! सब मौन । कोई सीख पाता तो बताता। प्रवचन सुनना एक व्यसनमात्र था । हां , वे उस 'दूरं' शब्द को सुन कर उससे अवश्य दूर हो गए, जो कुछ उन्होंने पहले सीखा था। संत ने चाण्डाल से पूछा – तुमने क्या सीखा ? वह बोला प्रभो ! मैंने तो यह सीखा कि और सब दूर ही दूर है, जो स्व है वह सबसे निकट है। धीरे–धीरे मैं स्व के निकट आ गया। गुरू अवाक् रह गये । वे बोले – कैसे सीखा तुमने इससे ? चांडाल ने कहा – प्रभो ! जब आपने कहा 'दूरं दूरं दूरं', तो मैंने सोचा , किससे दूर रहने की बात कह रहे हैं ? मुझे लगा कि वे दुनिया से दूर रहने की बात कह रहे हैं और मैं दूर चला गया । किसी एकान्त गुफा में जाकर बैठ गया । विचार करता रहा । सोचा, मैं संसार से दूर हो गया, सम्बन्धिजनों से दूर हो गया, पर शरीर से कहां दूर हुआ ? इसमें बंधा हूं ? मैंने मन ही मन कहा–शरीर से, मन, अहंकार से भी तो दूर होना होगा। आगे बढ़ा । बस, दूरं, दूरं, दूरं करता– करता मैं सबसे दूर हो गया और अपने आप में आकर ठहर गया।

यह है भावना का चमत्कार । दूरं की भावना द्वारा वह सबसे दूर हो गया और स्वयं के निकट हो गया । कभी–कभी ऐसी घटना घटित होती है कि पढ़ा–लिखा आदमी बाहर में उलझा रह जाता है और अनपढ़ स्वयं के भीतर चला जाता है ।

जब व्यक्ति का मन 'मैं अकेला हूं ' की भावना से भावित होता हे तब वह धीरे–धीरे अन्तर्मुखी बनता जाता है और स्वयं में आ कर स्थिर हो जाता है। मां–बाप, भाई–भौजाई, पत्नी, बेटा–बेटी सबसे संबंध टूटेगें । टूटने का अर्थ यह नहीं कि उन सबको छोड कर, घर को त्याग कर चला जाएगा । पर वह सबके साथ रहता हुआ भी अलग रहना, अकेला रहना सीख जाएगा । यह अलग रहने की कला है । भावनाओ का आलम्बन आत्मा की उपलब्धि के लिए कारगर उपाय है। मैत्री भावना का अभ्यास करने से शत्रुता का भाव मिट जाएगा । तब आपको सर्वत्र मित्र ही मित्र दिखाई देने लगेंगे , शत्रु कोई

दिखेगा ही नहीं। प्रमोद भावना का विकास होने पर आप दूसरों के गुणों को देखकर प्रसन्न होगें, खीजेंगे नहीं । दूसरों की सम्पन्नता पर आपको आनंद होगा, ईर्ष्या नहीं ।

करूणा भावना से आपके मन क़ी क्रूरता धुल जाएगी। आपका मन संवेदनशील बनेगा ।

मध्यस्थ भावना से दुष्ट हठी व्यक्तियों के प्रति उदासीन रहने की वृत्ति बनेगी । उस स्थिति में निरर्थक जो संताप होता है, वह नहीं होगा।

## साध्य-साधन का विवेक

मेघ कुमार अपनी जिज्ञासाएं एक–एक समाहित कर रहा है। ज्ञान अनंत है तो जिज्ञासाए भी कम नहीं हैं । मेघ ने जिज्ञासा के स्वर में कहा –

किं साध्यं साधनं किञ्च, केन तन्नाम साध्यते ?

साध्यसाधनसंज्ञाने, जिज्ञासा मम वर्तते ।। १३/१

भगवन् मेरे मन में तीन प्रश्न उभर रहे हैं–

१. साध्य क्या है ?

२. साधन क्या है ?

३. साध्य की साधना कौन करता है ?

भंते ! आप इनका समाधान दें, क्योंकि ये तीनो प्रश्न अध्यात्म साधना के महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं । इनका समाधान आप जैसे आत्म–गवेषक व्यक्ति ही दे सकते हैं ।

साध्य के निर्धारण के आधार पर ही साधना आगे बढ़ती है। जब तक साध्य स्पष्ट नहीं होता तब तक की जाने वाली क्रियाएं उतनी फल प्रद नहीं होतीं । यदि कोई व्यक्ति बिना लक्ष्य के पानी बहाता है तो वह पानी व्यर्थ ही जाता है, उसका उपयोग नहीं होता । खेत तक पानी पहुंचाने के लिए नाली का खेत तक पहुंचना आवश्यक है। नाली का प्रवाह यदि इधर–उधर होगा तो पानी खेत तक नही पहुंच पाएगा। इसी प्रकार हमारी क्रियाये हमे तभी लक्ष्य तक पहुंचा पाती है, जब हमारा लक्ष्य निर्धारित हो, स्पष्ट हो।

आज अनेक व्यक्ति साध्य के प्रति भ्रान्त हैं, इसलिए वे निरन्तर

भटकते रहते हैं, कभी सफल नहीं होते । जन्म–मरण की परम्परा का मूल भी यही है कि मनुष्य साध्य का स्पष्ट निर्धारण नहीं करता और करता है तो उस ओर सघनता से अभिमुख नहीं होता । जब साध्य स्पष्ट होता है तब भव भ्रमण मिट जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने अपना लक्ष्य निर्धारित किया और उसकी सिद्धि के लिए प्राणार्पण से जुट गए । वे विक्रम की आठवीं–नौवीं शताब्दी के मध्य के उद्‌भट विद्वान् थे । उनके ग्रन्थ आज भी उनकी बहुश्रुतता के प्रतीक हैं ।

उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया था–स्वयं का नाथ होना। वे कहते हैं – **हा हा अणाहा हुंता, जइ ण हुंतो जिणागमो** – यदि जिनागम नहीं होते तो हम अनाथ हो जाते । हमें तब कौन देता साध्य – साधन का विवेक ? इसके बिना हम अपने स्वामी नहीं बन पाते ।

प्रारम्भ में वे धुरन्धर विद्वान् थे । सर्वत्र उनकी धाक थी । उन्होने निश्चय किया–जिस गद्य या पद्य का अर्थ मुझे न आए और जो मुझे उस अर्थ का अवबोध दे, मैं उसी का शिष्यत्व स्वीकार कर लूंगा ।

एक दिन वे रात्री में घर आ रहे थे । आते–आते एक स्थान पर उनके पैर रुक गए । उनके कानों में कुछ अपरिचित शब्द सुनाई दिए। वह उपाश्रय था । ऊपर जैन साध्वियां स्वाध्याय कर रही थीं । प्राकृत भाषा के पद्यों को दोहरा रही थी । पद्य सुना, हरिभद्र ने उसका अर्थ समझने का प्रयत्न किया, पर वे असफल रहे । बुद्धि पर जोर दिया , पर अर्थ का अवबोध नहीं हुआ। वे तत्काल उस उपाश्रय की सीढ़ियां चढ़कर ऊपर गए। साध्वियां चौंककर बोली – यह साध्वियों का स्थान है। रात्री में यहां आना मना है । आपको कुछ पूछना है तो कल आ सकेंगे। हरिभद्र वहां से घर चले गये । मन छटपटा रहा था। प्रातःकाल हुआ। सूर्य उदित हुआ। वे साध्वी के पास आए। उस पद्य का अर्थ पूछा। अर्थ का अवबोध हुआ।

उन्होंने कहा–मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार आप मुझे शिष्य के रूप में स्वीकार करें। वे एक जैन आचार्य के पास दीक्षित हो गए।साध्वी

का नाम था–याकिनी । हरिभद्र ने 'याकिनीसूनु' के नाम से अपना परिचय प्रस्तुत किया है ।

हरिभद्र ने जैन आगमों का अध्ययन किया । महावीर का दर्शन समझकर उनके मुंह से निकल पड़ा–''**हा हा अणाहा हुंती, जइ ण हुंतो जिणागमो ।**''

हम अनाथ होते यदि हमे महावीर प्राप्त नहीं हाते । जैन आगम प्राप्त नहीं होते ।

यह सच है कि जब एक प्रबुद्ध व्यक्ति, जागा हुआ व्यक्ति चला जाता है तो पीछे अनाथता व्याप्त हो जाती है । महावीर के चले जाने के बाद भी ऐसा ही हुआ । पर आचार्य कहते हैं– हम सौभाग्यशाली है कि महावीर की धरोहर आज हमारे पास है । यदि यह धरोहर नहीं होती तो हम भी आज अनाथ हो जाते ।

संबोधि को जब मैने पहली बार पढ़ा तो मुझे लगा कि महावीर का पूरा दर्शन, अनुभूत वाणी इस छोटे से ग्रन्थ में सन्निहित है । इस एक ग्रन्थ का पारायण पर्याप्त है व्यक्ति के रूपान्तरण के लिए। यदि कोई महावीर बनने की चाबी चाहता है तो वह चाबी इस ग्रन्थ में है। पर मिलती उसी को है जो सच्चे मन से उसको प्राप्त करना चाहता हो, जिसकी दृष्टि सम्यक् हो ।

अनाथ वह होता है , जिसका कोई नाथ नहीं हैं, स्वामी नहीं है। नाथ वह होता है जो अपना मालिक होता है, अपना स्वामी होता है। संसार में नाथ वह कहलाता है जो एश्वर्य से सम्पन्न होता है, जिसके पास वैभव होता है। पर अध्यात्म में नाथ की परिभाषा भिन्न है । उसमें नाथ उसे माना गया है जो अपना मालिक है, अपना स्वामी है।

सम्राट् श्रेणिक ने एक संत को उपवन में, एक वृक्ष के नीचे ध्यान की मुद्रा में देखा । वह उनके रूप, लावण्य और आकृति से पराभूत हो गया । संत की अवस्था तरूण थी । गौर वर्ण, सुन्दर आकृति,प्रमाणोपेत संस्थान ! ध्यान सम्पन्न कर संत ने आंखें खोली।

श्रेणिक बोला–अरे ! आपने इस यौवन अवस्था में यह श्रामण्य क्यों स्वीकार कर लिया ? संत बोले–मैं अनाथ था। मैंने नाथ बनने के लिए यह मार्ग स्वीकार किया है। श्रेणिक बोला–मैं आपका नाथ बनता हूं। मैं सम्राट हूं । मेरे पास अपार वैभव है। संत बोले–यह अहं की भाषा है। तुम स्वयं अनाथ हो, मेरे नाथ कैसे बन सकते हो ? तुम स्वयं के भी स्वामी नहीं हो तो भला मेरे स्वामी कैसे बन सकोंगे ? सम्राट ने पूछा–मैं मगध देश का सम्राट हूं ,अनाथ कैसे ? संत बोले सम्राट हो, पर हो अनाथ ही । तुम अपनी इन्द्रियों और मन के स्वामी नहीं हो। जो अपना स्वामी नहीं है वह दूसरे का स्वामी कैसे बनेगा ? मैं घर से इसलिए निकला हूं कि अपना स्वामी बनूं ।

हमारा साध्य है–स्वयं का स्वामी बनना। वास्तव में यही लक्ष्य है । जो अपने में ठहरता है, वही अपना स्वामी होता है। जो अपने से दूर जाता है, वह निरन्तर भटकता रहता है। जिन्होंने अपना साध्य बनाया स्वयं से दूर जाना, वे भटक जाते हैं। जिनका साध्य है अपने निकट आना, वे उसे पा लेते हैं। इस दुनियां में दो ही साध्य हैं, तीसरा कोई नहीं हैं। एक साध्य है व्यापक। उसमें विस्तार ही विस्तार है, फैलाव ही फैलाव है। कहीं उसका अन्त नहीं है। एक साध्य है सिमटने का । बाहर से सिमटकर अपने में ठहर जाना । महावीर ने कहा–मेघ ! दुनियां में नाना रूचि वाले लोग हैं । उनके साध्य भी नाना हैं । किंतु अपने आपके प्रति वही आता है, अपने साध्य के प्रति वही आता है , अपने साध्य के प्रति समर्पित होता है जो यह मानता है कि लोक है, जीव है और कर्मफल भुगतना पड़ता है।

**अस्ति लोकोऽपि जीवोऽपि, कर्म कर्मफलं ध्रुवम् ।**
**एवं निश्चयमापन्नः, साध्यं प्रति प्रधावति ।। १३/७**

जिस व्यक्ति की लोक आदि चार तत्त्वों में आस्था हो जाती है वह सोचता हैं, यह संसार क्या है ? यहां निरन्तर जन्म मरण के चक्र में भटकना पड़ता है । यहां राग, द्वेष में जीना, कर्मो के कड़वे–मीठे

फल भुगतने पड़ते हैं। इससे कभी विरति नहीं होती । मुझे ऐसा मार्ग पकड़ना चाहिए जिससे इन सभी बंधनों से छुटकारा मिल जाए। यहां से जीवन का मोड़ शुरू होता है । आदमी नये जीवन पथ की खोज करता है । उस स्थिति में वह साध्य का निर्णय करता है – शद्ध चैतन्य का अनुभव, आत्म साक्षात्कार, बंधन मुक्ति। यह साध्य उसी साधक का बनता है जिसमें मुमुक्षा है– मुक्त होने की इच्छा है, कर्म–बंधन को काटने की इच्छा है। वही साधक साध्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाता है। यह साध्य और साधन की बात है।

प्रश्न है इस साध्य की प्राप्ति का साधन क्या है ? महावीर कहते हैं–एक शब्द में साधन का निरूपण करें तो कहा जा सकता है कि साधन है संयम। जब साध्य है आत्मा तो साधन संयम ही हो सकता है और साधक होता है – आस्थावान्। जिसकी आस्था स्व में है , जो चेतना और आत्मा को मानकर चलता है वह संयम के माध्यम से साध्य तक पहुंच जाता है । आत्मा तक पहुंचने का तात्पर्य है परमात्मा तक पहुंचना । आत्मा ही परमात्मा है । **आत्मैव परमात्मास्ति,रागद्वेषविवर्जितः ।** जो आत्मा राग–द्वेष से रहित है, मुक्त है, वह परमात्मा है ।

परमात्मा बनने की एक शर्त है–शरीर से मुक्त हो जाना । शरीर पांच हैं–औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण । इनकों हम दो या तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। दो भाग–स्थूल और सूक्ष्म, तीन भाग–स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीर। जब इन सभी शरीरों से मुक्ति मिलती है तब आत्मा बंधन मुक्त हो कर परमात्मा बन जाती है। स्थूल शरीर को हमने अनेक बार छोड़ा है पर सूक्ष्म और कारण शरीर को छोड़ने में हम असफल रहे हैं। इसलिए हमारी पूरी मुक्ति नहीं होती । सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर आत्मा के साथ सदा रहते है । वे क्षण भर के लिए भी नहीं छूटते हैं । जिस क्षण में वे छूट जाते हैं, उसी क्षण मुक्ति मिल जाती है । नादान मनुष्य आत्महत्या से स्थूल शरीर से छुटकारा पा लेता है पर सूक्ष्म शरीर से छुटकारा पाना

आत्महत्या से नहीं होता है । एक शरीर छूटता है और दूसरा प्राप्त हो जाता है । यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि कारण शरीर मौजूदा रहता है । कार्मण शरीर है कारण शरीर। इसी से स्थूल शरीर बनता है । कारण है कारण शरीर और कार्य है स्थूल शरीर। कारण को मिटाने पर ही कार्य मिट सकता है । चोर को मिटाने के लिए चोर के उत्पत्ति स्थान को मिटाना होगा । अन्यथा एक चोर मिटेगा, दूसरा खड़ा हो जाएगा । सारे आवेश और आवेग, राग–द्वेष, मोह आदि की वृत्तियां कार्मण शरीर से, भाव शरीर से आती हैं। वहां से विचारो और स्थूल शरीर में उतरती हैं। जब तक उनका कारण मौजूद है तब तक उन्हें सर्वथा मिटाया नहीं जा सकता । जब कार्मण शरीर मिटता है, तब चेतना का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है । चेतना पर पड़े आवरण हटते है और आत्मा अपने स्वरूप में जगमगाने लगती है ।

महावीर कहते हैं, अपने स्वरूप के प्रकटीकरण के लिए संयम अपेक्षित है । संयम का अर्थ है–समेटना । जो हमने मन और वृत्तियो के द्वारा फैलाव किया है उसे समेटना संयम है । आदमी का रस है फैलाव में, संकोच में उसका रस नहीं है। जो जितना फैलाव करता है वह उतना ही उलझता जाता है । जो फैलता है वह दुःखी होता है । फैलाव का अर्थ ही है अपने आप को उलझाना और सिमटने का अर्थ है–भीतर की ओर चले जाना । महावीर और बुद्ध ने फैलाव नहीं किया । हो गया, यह भिन्न बात है। उन्होने स्वयं कुछ भी नहीं किया। वे अपने केन्द्र पर टिके रहे । यदि वे फैलाव में लग जाते तो उनका दृष्टिकोण बदल जाता ।

संबोधि को आप पढ़े। आदि से अन्त तक आपको प्रतीत होगा कि महावीर कितने उन्मुक्त भाव से बोल रहे हैं। महावीर के भीतर कुछ नहीं है, चेतना के अतिरिक्त। महावीर यह नहीं कहते, मैं क्षत्रीय हूं या ब्राह्मण हूं। वे अपने को किसी भी विशेषण से युक्त नहीं करते। बहुत साधारण साधक बन कर चल रहे है। इसलिए उन्होंने कहा–आत्मा

को वही पा सकता है, साध्य तक वही पहुंच सकता है, जिसका धर्म के प्रति लगाव हो, धर्म में बुद्धि हो । **श्रमणो वा गृहस्थो वा, यस्य धर्मे मतिर्भवेत्** – गृहस्थ हो या श्रमण–धर्मवान लक्ष्य तक पहुंच जाएगा। कितना मुक्त चिन्तन है ! न श्रमण के प्रति अनुराग और न गृहस्थ के प्रति विराग। अनुराग है तो केवल धर्मिष्ठ के प्रति। उन्होंने यह नहीं कहा – मेरे धर्म या अनुशासन में आने पर ही तुम्हारी मुक्ति होगी। वे कहते हैं–कहीं भी रहो, मुक्ति होगी कषायों की क्षीणता से, मुक्ति होगी धर्म आराधना से। **'न गामे वा रण्णे वा'**– मुक्ति न गांव में रहने से होती है और न अरण्य में जाने से । मुक्ति गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है। मुक्ति की एक मात्र शर्त है– अन्तर्यात्रा, भीतर से जुड़ना, शुद्ध चैतन्य के अनुभव करने का प्रयत्न करना। राग और द्वेष का विलय करने से सिद्धि होती है–

**ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये, न ग्रामे नाप्यरण्यके ।**
**रागद्वेषलयो यत्र तत्र सिद्धिः प्रजायते ।। १३/२२**

साधना का घनिष्ठ संबंध आत्मा से है, इसलिए सिद्धि का साधन आत्मा ही है ।

महावीर के उत्तर सुनकर मेघकुमार आनन्द के सागर में डुबकिया लेने लगा। वह आत्मविभोर हो उठा। उसने पूछा–भगवन् ! श्रमण ! ब्राह्मण, मुनि और तापस का लक्षण क्या है ? पहचाना क्या है ? क्या उनके बाह्य वेष ही उनके परिचायक हैं या अन्य ? आप वास्तविकता का बोध दें। महावीर बोले–मेघ ! तुम नहीं समझे । मेरा धर्म केवल आन्तरिक है, आदि से अन्त तक आन्तरिक है। मैं बाह्य क्रियाकाण्डों, वेष–भूषाओं और लिंग को विशेष महत्त्व नहीं देता । सुनो–

**न मुंडितेन श्रमणः, न चोंकारेण ब्राह्मणः ।**
**मुनिर्नारण्यवासेन, कुशचीरै र्न तापसः ।।**

**श्रमणः समभावेन, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।**
**ज्ञानेन च मुनिर्लोके, तपसा तापसो भवेत् ।। १३/२३-२४**

मेघ ! सिर को मुण्डा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार को जपने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और कुश के बने हुए वस्त्र पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता। समभाव का उपासक श्रमण होता है, ब्रह्म में विचरण करने वाला अथवा जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह ब्राह्मण होता है । मुनि वह होता है, जो ज्ञान की उपासना करता है और तापस वह होता है जो तपस्या करता है, तप की आराधना करता है।

मेघ ! इन सारे आन्तरिक गुणों से ही वे उस नाम से व्याख्यात होते हैं, वेशभूषा या बाह्य निमित्तों से नहीं । ये बाह्य निमित्त पहचानमात्र माने जा सकते हैं। साधना का उसके साथ निकट का संबंध नहीं है ।

महावीर की दृष्टि में चारों एक ही धरातल पर हैं । चारों अन्तर्यात्रा पर निकल पड़े हैं । उन सबका केन्द्र बिन्दु है–आत्मा का ऊर्ध्वारोहण । मार्ग भिन्न–भिन्न हैं, पर लक्ष्य या साध्य एक है और वह है आत्मा की सन्निधि प्राप्त करना। समता, ब्रह्मलीनता, ज्ञान और तप–चारों आदमी को बाहर से हटाकर भीतर में स्थित करते हैं । इसलिए श्रमण, ब्राह्मण, मुनि और तापस– सबका लक्ष्य एक है और साधनों की भिन्नता में भी उनकी पृष्ठभूमि एक है ।

आत्मा को पाने का एक मात्र साधन है संयम, फिर उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाए । संयम यानी फैलाव को समेटकर भीतर में चले जाना, आत्माभिमुख हो जाना । आत्माभिमुखता संयम है । आत्माभिमुख व्यक्ति साधक है । असंयम है बहिर्मुखता और संयम है अन्तर्मुखता ।

संयम सबके लिए है। यह किसी एक वर्ग या जाति के लिए नहीं

है। महावीर कहते हैं–जाति अतात्त्विक है । युग के प्रारम्भ में कार्य के आधार पर व्यक्तियों का विभाजन हुआ और चलते–चलते वे जातियां बन गई । वास्तव में जाति एक ही है और वह है मनुष्य जाति। मनुष्यो के चार विभाग ये हैं–

१. ब्राह्मण–स्वयं ईश्वर की उपासना करते हुए दूसरों को उस ओर मोड़ने का प्रयत्न करने वाला वर्ग ।

२. क्षत्रिय–आततायियों से देश आदि की रक्षा करने वाला वर्ग।

३. वैश्य–व्यापार, कृषि आदि से आजीविका करने वाला वर्ग।

४. शूद्र– समाज की सेवा करने वाला वर्ग ।

इस व्यवस्था में कार्य की मुख्यता है । जन्म मात्र से कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं होता। एक ब्राह्मण भी सेवा कार्य करता हुआ शूद्र कहला सकता है और एक शूद्र भी ब्राह्मण का कार्य करता हुआ ब्राह्मण कहला सकता है। शूद्र में ब्राह्मण और ब्राह्मण में शूद्र होता है। रैदास चमार जाति में उत्पन्न हुए थे, पर आत्मा की खोज में निकल पड़ने के कारण ब्राह्मण–तुल्य हो गए। कबीर जुलाहे के घर में पले–पुसे, पर ईश्वर की सन्निधि पाकर ब्राह्मण–तुल्य बन गए। ब्राह्मण वह होता है जिसका सारा ध्यान चेतना की ओर होता है, अन्तर्मुखी होता है। इस दृष्टि से सुथार के घर में जन्मी महात्मा भूरीबाई, क्षत्रिय कुल में जन्मे महाराज चतुरसिंहजी, रामसिंहजी और ये(सामने बैठे) मानसिंहजी–ये सभी ब्राह्मण–तुल्य ही है। क्योंकि इन सब में आत्माभिमुखता थी/है। क्षत्रिय जब रक्षा कार्य में लीन है, योद्धा है, तब तक वह क्षत्रिय है और वही जब आत्माभिमुख हो जाता है, तब ब्राह्मण बन जाता है। एक ब्राह्मण क्षत्रिय भी हो सकता है, वैश्य भी हो सकता है और शूद्र भी हो सकता है । महावीर जातिवाद के विरोधी थे। वे कहते हैं–अतात्त्विक को तात्त्विक मान लेना अधर्म है, उन्माद है । जो जाति को शाश्वत मानता है, वह मूढ है। जब व्यक्ति इन नामरूप वर्गो को छोडकर अपनी ओर मुडता है तब वह मात्र मनुष्य रहेगा और उसका साध्य होगा–चेतना। वह इस साध्य

की प्राप्ति के लिए संयम को साधन बनाएगा। वह सिमटकर चलेगा और इससे फलित होगी एकाग्रता, स्थिरता।

इस चर्चा का निष्कर्ष है–

साध्य है–बंधनमुक्ति।

साधन है–संयम।

साधक है–आस्थावान।

महावीर का साध्य–साधन का विवेक संक्षेप में इस प्रकार है–

शुद्ध साध्य की उपलब्धि के लिए शुद्ध साधन ही प्रयोजनीय होंगे।

अशुद्ध साध्य से शुध्य साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

मोक्ष साध्य है संयम उसका साधन है। दोनो विशुद्ध हैं।

अहिंसा साध्य है । हिंसा उसका साधन है, इसमें साध्य शुद्ध है, पर साधन अशुद्ध है। हिंसा से अहिंसा फलित नहीं होगी। अहिंसा को फलित करने के लिए करुणा,संयम,सहिष्णुता, उपेक्षा–ये शुद्ध साधन ही काम में लेने होंगे।

महावीर बोले–मेघ ! मैंने साध्य साधना का स्पष्ट विवेक तुम्हे दिया है। तुम अन्तर्यात्रा पर चल पड़े हो । ज्ञान के आलोक में तुम्हे वह सब स्पष्ट प्रतीत होगा जो अज्ञात है । तुम गहरे में उतरो और अनुभव करो। संसार और मोक्ष ये दो ध्रुव हैं। दोनों की विपरीत दिशाएं हैं। दोनों विरोधी है। एक में सर्वथा मन–इन्द्रियों आदि का खुलापन है और दूसरे में उन सबका नियन्त्रणीकरण है। एक में उपभोग है और दूसरे में संयम है। एक चलता है बाहर की दिशा में और दूसरा चलता है अन्तर की दिशा में। जो अन्तर की दिशा में चलता है उसका दर्शन भिन्न होता है, उसकी जिज्ञासाएं भी भिन्न होती है। मेघ साधक है। अतीत में अनेक साधक हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे।उनकी जिज्ञासाएं भी समान होगी और समाधान भी समान होगा। यह समाधान सब के लिए है। मेघ के सामने कुमार श्रमण केशी और गौतम के बीच हुए वार्तालाप को प्रस्तुत कर

साधना–पथ में आने वाली बाधाओं का निराकरण कर प्रशस्त पथ दर्शन किया है। सबसे पहला प्रश्न है – अनियन्त्रित मन का ।

केशी ने गौतम से पूछा–भंते ! आप दुष्ट अश्व पर चढ़कर चले जा रहे हैं। क्या वह आपको उन्मार्ग पर नहीं ले जाता है ?

गौतम–मैंने उसको श्रुत की लगाम से बांध रखा है। वह मेरे वश में है। वह जो साहसिक भयंकर, दुष्ट अश्व है वह मन है। वह मेरे अधीन है, उस पर मेरा पूरा नियन्त्रण है। इस नियन्त्रण के द्वारा वह मेरी आज्ञा का पालन करता है।

केशी–भंते ! लोक में कुमार्ग बहुत हैं। आप उसमें कैसे नहीं भटकते है ? गौतम–मुने ! जो मार्ग और कुमार्ग हैं, वे सब मुझे ज्ञात हैं। जो अ–वीतराग के पथिक हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो वीतराग का मार्ग है, वह सन्मार्ग है, वह उत्तम मार्ग है। मैं दोनो को जानता हूं अतः भटकने का प्रश्न ही नहीं आता।

केशी–भंते ! तुम्हारा शत्रु कौन है ?

गौतम–मुने ! एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है, कषाय और इन्द्रियां शत्रु हैं। मैं उन्हे जीत कर विहरण करता हूं।

केशी–भन्ते ! पाश–बन्धन क्या है ?

गौतम–मुने ! प्रगाढ़ राग, प्रगाढ़ द्वेष और स्नेह–ये पाश हैं, बन्धन हैं। इनसे जीव कर्म–बद्ध होता है। ये संसार के मूल हैं।

केशी–भन्ते ! हृदय के भीतर जो उत्पन्न लता है, जिसके विषतुल्य फल लगते हैं, उसे आपने कैसे उखाड़ा है ? और वह लता क्या है ?

गौतम–मुने ! भव–तृष्णा को लता कहा गया है। यह भयंकर है। उसमें भयंकर फलो का परिपाक होता है । मैंने उसे सर्वथा काटकर उखाड कर फेंका है । मैं विष–फल खाने से मुक्त हूं।

केशी–भंते ! अग्नि किसे कहते हैं ?

गौतम–मुने ! क्रोध, मान, माया और लोभ–ये चार अग्नियां हैं। ये सदा प्रज्वलित रहती हैं। श्रुत, शील और तप–यह जल है। श्रुत

की धारा से आहत किए जाने पर, निस्तेज बनी हुई ये अग्नियां मुझे नहीं जलाती हैं।

काम को कैसे जीते ? सत्य की प्राप्ति में काम – वासना बाधक है। इस दृष्टि से वह हेय है। संसार की दृष्टि से वह हेय–उपादेय दोनों हैं। असंयमित–अति कामवासना हेय है। जिसकी उच्छृंखलता अनेक अकृत्यों को संपादित करती हैं। जिसका नग्न रूप आज सर्वत्र दृश्य है। कामासक्त व्यक्ति इतना अंधा हो जाता है कि उसके लिए दिन–रात की सीमा भी नहीं रहती है। इस प्रकार की कामवासना समग्र दृष्टि से सर्वथा गर्हित है। उपादेय केवल इसी दृष्टि से है कि वह संतति की परम्परा को अविच्छिन्न रखती है तथा सामाजिक, धार्मिक आदि दृष्टि से सम्मत है। वह केवल स्व–स्त्री में संतोष तक है।

मेघ साधक है। उसे पूर्ण संयम करना है, जीतना है। ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण करना है। इसलिए वह पूछता है–इस ग्राम्य–धर्म–काम वासना पर विजय कैसे पाई जा सके ? 'ग्राम्य–धर्म' यह काम के लिए सर्वथा उपयुक्त शब्द है। क्योंकि ग्रामीणजनों में कार्याकार्य का विवेक नहीं होता।

महावीर बोले–उसे संयम को पुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। संयम की पुष्टि के लिए और कामवासना की मुक्ति के लिए उसे सबसे पहले आहार पर नियन्त्रण करना चाहिए। गरिष्ठ भोजन वृत्तियों को उत्तेजित करता है, इन्द्रियों को कुपित करता है । कुछेक भोज्य पदार्थ व्यक्ति में तामसिकता का भाव पैदा करते हैं। इसलिए भोजन पर विशेष ध्यान देना साधक की सफलता का रहस्य है। दूसरी बात है कि भोजन में विविध पदार्थ न लिए जाए। और अधिक मात्रा में भोजन न किया जाए। इससे उत्तेजना में कमी आती हैं। भोजन के विवेक के साथ साथ कायोत्सर्ग, आसन और प्राणायाम भी वृत्तियों को शांत करने में सहयोगी बनते हैं। आसनों के द्वारा कामग्रन्थियां नियन्त्रित होती हैं। जो स्राव उत्तेजना पैदा करते हैं वे स्राव रूक जाते हैं और सात्त्विक भाव पनपने लगते हैं।

हमारा साध्य है आत्म दर्शन अपना स्वामी बनना। उसी के परिप्रेक्ष्य में यह साधनो की चर्चा है। उस चर्चा का फलित यह रहा कि संयम साधन है और उसके अतिरिक्त शेष साधन है यदि संयम के उपजीवी न हो तो वहां तक नहीं पहुंच पाते। इस दृष्टि से संयम ही मनुष्य का परम धन है, यदि इसकी सुरक्षा है तो सब कुछ सुरक्षित है और इसकी सुरक्षा नहीं है तो कुछ भी सुरक्षित नहीं है हम इस परमधन को समझें, इसको प्रधान धन मानें और शेष पदार्थ–धन को गौण मानें।

कन्फ्यूशियस चीन के महान् तत्त्ववेता संत थे। वे स्वयं को सम्राट कहते थे। एक दिन चीन का सम्राट वहां आकर बोला–आपके पास न वैभव है, न कोई संपदा हैं, तब आप सम्राट कैसे है ? मैं सम्राट हूं। अपार वैभवशाली और संपदाओ से सम्पन्न हूं। संत ने कहा–धन सम्पदा उसे चाहिए जो गरीब हो। मैं गरीब नहीं हूं। सम्राट बोला–सम्राट के पास सेना होती है, सुरक्षा के साधन होते हैं। आपके पास कहां है सेना ? संत बोले–सेना उसे चाहिए जो भयभीत है। मैं अभय हूं। सम्राट बोला–सम्राट रूपवान होता है। आप कुरूप हैं। संत ने कहां–बाह्य सौन्दर्य उसे चाहिए जो भीतर से कुरूप होता है। मैं भीतर से पूर्ण सुन्दर हूं। वास्तव में मैं अपना सम्राट हूं। यह वार्ता–प्रसंग हमें संयम धन की वास्तविकता को समझाने में सक्षम है ।

हम महावीर की अनुभूत वाणी का अनुगमन कर अनाथ से नाथ, अस्वामी से स्वामी बनने की योग्यता प्राप्त करें और इस महान् साध्य को सिद्ध करें। साध्य है–आवृत चेतना को अनावृत करना, अपने आपका मालिक बनना।

## गृहस्थ का साधना-क्रम

मेघ ने अपनी जिज्ञासा को मोड़ दिया। अब उसके मन में गृहस्थ के साधना क्रम को जानने की इच्छा हुई। उसने पूछा–

**गृहप्रवर्तने लग्नो, गृहस्थो भोगमाश्रितः ।**
**साध्यस्याराधनां कर्तुं, भगवन् ! कथमर्हति ?।। १४/१**

भगवन् ! गृहस्थी में रहता हुआ साध्य को कैसे प्राप्त कर सकता है जबकि उसका जीवन भोगमय है। वह अनेक व्यथाओं, चिन्ताओं में जीता है। वह साध्य की आराधना कैसे कर सकता है ? गृहस्थ का जीवन कांटों का जीवन है। वह अनेक विपत्तियों और चिन्ताओं से घिरा हुआ है। वह निरन्तर उसमें फंसा रहता है । उसमें यह विवेक नहीं रहता कि वह सुख–दुःख का विश्लेषण कर सके।

गृहस्थ की साधना का प्रश्न हजारो वर्षो से चला आ रहा है। आचार्यो ने चिन्तन किया और कहा कि गृहस्थ आत्महित की साधना में कठिनाई से अग्रसर हो पाता है, क्योंकि वह अपने पारिवारिक और घरेलू समस्याओ से मुक्त नहीं होता। जब तक ये समस्याए रहती हैं, व्यक्ति साधना में उतर नहीं पाता। उसके लिए मन को साधना कठिन है।

महावीर ने सबके लिए साधना पथ का निर्देश दिया है। जो साधना करना चाहते है। उनके लिए पहले भी साधना का क्रम था और आज भी है। जो साधना करना नहीं चाहते, उनके लिए न पहले कोई

क्रम निर्दिष्ट था और न आज है ।

महावीर की दृष्टि बहुत स्पष्ट थी। वे यह नहीं देखते थे कि व्यक्ति कौन है ? कहां है ? उनकी दृष्टि में व्यक्ति की भावना या मुमुक्षा की महत्ता थी। इसलिए उन्होंने कहा –मेघ ! जिस व्यक्ति की आसक्ति क्षीण हो जाती है, वह घर में रहता हुआ भी, गृहस्थ अवस्था में मोक्ष की आराधना कर सकता है।

मोक्ष की आराधना न घर में रहने से है और न घर को छोड़ने में है, अर्थात् उसका अधिकारी गृहस्थ भी नहीं है और गृहत्यागी भी नहीं है। उसका अधिकारी वह है जो आशा को त्याग चुका है।

जिसने घर का त्याग किया, किन्तु आशा का त्याग नहीं किया, वह न त्यागी है और न गृहस्थ। वही मनुष्य त्याग का अधिकारी है जो आशा को त्याग चुका है।

महावीर ने बहुत मार्मिक बात कही है, साधना की पहली शर्त है आशा का परित्याग, आकांक्षा, तृष्णा से मुक्त होना। बुद्ध कहते हैं–तृष्णा दुःख है। जो तृष्णा से मुक्त हो जाता है वह दुःख से अतीत हो जाता है। आशा और तृष्णा एक हैं। इसके त्याग से ही साधना का क्रम प्रारम्भ होता है । लोग पदार्थों का त्याग करते हैं। यह स्थूल त्याग है। वास्तविक त्याग है ममत्व को छोड़ना, तृष्णा को छोड़ना। त्यागी हो कर भी जिसका मन भौतिक पदार्थो पर टिका रहे, पुरानी स्मृतियों पर जीता रहे तो वह त्याग बाहरी त्याग है। यह आत्मा को बंधन–मुक्त करने में सक्षम नहीं होता। यदि एक सम्राट साधु बनकर अपने राज्य का, वैभव का, संपदा का निरन्तर अनुचिन्तन करता रहे और कहता रहे कि मैं राजा था, मैंने वैभव को छोड़ा तो मानना चाहिए कि वह त्याग अत्याग है। उसके मन में राज्य और वैभव भरा पडा है । अपना क्या है ? जो यह कहें कि मैने यह छोडा या वह छोडा। जो आप छोडते हैं वह सब छूटा हुआ है। अपना कुछ होता और छोडा जाता तो समझ में आता कि कुछ छोडा है। वास्तव में अपना कुछ है ही नहीं । छोडने का यह झूठा अहं ऊपर नहीं, नीचे

ले जाता है।

पदार्थो का त्याग एक बात है और आकांक्षा को छोड़ना दूसरी बात है। आकांक्षा का त्याग महत्त्वपूर्ण होता है। वास्तव में त्यागी वही होता है जो आकांक्षा का त्याग करता है । इसलिए महावीर कहते हैं कि गृहस्थ भी एक सीमा तक आकांक्षा से मुक्त रह सकता है। यही उसकी साधना का पहला चरण है ।

धर्म एक और अखण्ड है। उसको बांटा नहीं जा सकता । लेकिन महावीर कहते हैं–

**योग्यताभेदतो भेदो, धर्मस्याधिकृतो मया।**
**एक एवान्यथा धर्मः स्वरूपेण न भिद्यते।। १४/६**

मेघ ! योग्यता की तरतमता के कारण मैंने धर्म के भेद का निरूपण किया है। एक है पूर्ण धर्म की आराधना और दूसरी है अपूर्ण धर्म की आराधना। महाव्रतों की आराधना पूर्ण धर्म है और अणुव्रतों की आराधना अपूर्ण धर्म है। जो व्यक्ति आशा का पूर्ण त्याग नहीं करता है और धीरे–धीरे आशा का संकोच करता जाता है वह व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहता हुआ अणुव्रत का पालन करता है। जो आसक्ति का पूर्ण त्याग करता है वह महाव्रतों के मार्ग पर आ जाता है । अणुव्रत का मार्ग भी कठिन है और महाव्रत का मार्ग भी कठिन है। मैंने जब संबोधि का पारायण किया तब मुझे प्रतीत हुआ कि महावीर ने जिस सूक्ष्मता के साथ सत्य को अनावृत किया है उसे देख कर हृदय आनन्द से गद्‌गद हो जाता है। उन्होने पूर्ण सत्य को शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उस सत्य का पालन इतना सहज तो नहीं है, फिर भी उस ओर चलने वाला व्यक्ति उसे पा ही लेता है। जब तक व्यक्ति बहिमुर्खता से विरत नहीं होता तब तक उस परम सत्य तक नहीं पहुंचता। साधु और गृहस्थ–दोनो के लिए सत्य एक है और साधना का मार्ग भी वास्तव में एक ही है। कोई घर में रह

कर साधना करे या घर का त्याग कर, संन्यासी–मुनि बनकर साधना करे, दोनो के लिए अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। अन्तर्मुखी होने का तात्पर्य है–विजातीय तत्त्वों–बाहरी विचारों और भावनाओ से अलिप्त रहना। महाव्रत और अणुव्रत–दोनों लक्ष्य तक पहुंचाते हैं। इनमें काल की दीर्घता या अल्पता हो सकती है, पर पथ एक है। महावीर का यह कथन है कि गृहस्थ जीवन में भी उत्कृष्ट कोटि की साधना हो सकती है और एक भवावतारी हुआ जा सकता है। महावीर के शासन में ऐसे अनेक गृहस्थ उपासक हुए हैं, जो पन्द्रह–बीस वर्षो तक धर्म की आराधना कर, संयम की साधना कर आत्म–साक्षात्कार की ओर बढ़े और अपनी आवश्यकताओं को समेटकर, ममत्व से मुक्त हो गए। उनका जीवन इतना निर्मल हो गया कि एक जन्म ग्रहण कर, दूसरे जन्म में मुक्त होने की योग्यता उनमें संपादित हो गयी। कितनी गहरी साधना ! इसीलिए महावीर को कहना पड़ा–कुछ साधुओं से श्रावकों की साधना अच्छी है और सभी श्रावकों से साधुओं की आराधना श्रेष्ठ है। जो मुनि साधना पथ पर आरूढ़ हो कर अपने व्रतों की सम्यक् परिपालना नहीं करता, साधना में लीन नहीं होता, उससे वह श्रमणो–पासक(गृहस्थ उपासक) श्रेष्ठ है जो गृहीत व्रतों का सम्यक् पालन करता है, साधना के अभिमुख रहता है। जो श्रमण अपनी साध ाना में तन्मय रहता है, वह समस्त श्रमणोपासकों से उन्नत है। क्योंकि वह पूर्ण विरति के पथ पर है और गृहस्थ विरति–अविरति के पथ पर है। वह पूर्ण विरति के पथ पर आने में असमर्थ है।

आशा दुःख है, चिन्ता है। आज का आदमी आशाओ को बढ़ाता चला जा रहा है। उसका अन्त कहीं नहीं है। एक आशा के पूरी होते–होते दूसरी पैदा हो जाती है। आदमी निरन्तर इसकी उधेडबुन में लगा रहता है। वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। सामान्य आदमी ही नहीं, बड़े से बडा आदमी भी आज दुःखी है। जितनी बडी आशा उतना बडा दुःख। जितनी आशाए उतने ही दुःख। संपत्तिशाली

आदमी और अधिक दुःखी है। एक व्यंग्यात्मक संवाद से कवि ने इसी सत्य का मार्मिक चित्रण किया है । ब्रह्मा, विष्णु और शिव–ये तीन एक ही तत्व के रूप हैं। तीनों भगवान् के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भगवान् विष्णु और शिव यात्रा पर निकले थे। दोनों की दो दिशाएं थी। अकस्मात् एक दिन दोनो आमने–सामने मिल गए। भगवान् विष्णु ने शिवजी से पूछा–कुशलक्षेम है ? शिवजी मूड में आ गये। बोले–कैसा कुशल–क्षेम ? विष पी कर भी मै मरा नहीं ! विष्णु ने कहा–इतना क्या दुःख है आपको ? आप अकिंचन हैं। मस्त फकीर हैं। आपको किस बात की चिन्ता है ? शिव ने निःश्वास छोड़ते हुए कहा–

**अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी,**
**तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुता सिंहोऽपि नागाशनम्।**
**इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद् गुहे,**
**तत्रान्यस्य कथं न भावि जगतो यस्मात् स्वरूपं हि तत्।।**

मेरे घर की हालत कितनी बिगड़ी हुई है ? मेरे सिर पर और गले में पड़ा सांप मेरे पुत्र गणेश के वाहन चूहे को खाने के लिए लपकता है, यह एक चिन्ता है। दूसरी चिन्ता यह है कि मेरे दूसरे पुत्र कार्तिकेय का वाहन–मयूर मेरे गले के सांप को खा जाना चाहता है! तीसरी चिन्ता यह है कि–मेरी पत्नी पार्वती का वाहन है सिंह ! वह मैंरे पुत्र गणेश को खा जाना चाहता है, क्योंकि उसका मुंह हाथी का है, और सिंह तथा हाथी में वैर है ! चौथी चिन्ता यह है–मैंने सिर पर गंगा को धारण कर रखा है। मेरी पत्नी पार्वती सोचती है कि वास्तव में पत्नी तो मैं हूं ! फिर गंगा को सिर बैठाने का क्या औचित्य है ! इतनी चिन्ताओं से दुःखी होकर संसार से मुक्त होने के लिए मैने हलाहल विष पीया, फिर भी मरा नहीं ! ऐसी स्थिति में कैसा कुशलक्षेम ?

भगवान् शंकर ने विष्णु से कहा–आप परम भाग्यशाली हैं, वैभव की देवी लक्ष्मी आपकी पत्नी हैं। आपके कुशल–क्षेम के सम्बन्ध में

क्या पूछूं ? परम कुशल है आपके ? विष्णु ने गंभीर मुद्रा धारण करते हुए कहा—न पूछो, तब तक ठीक है। पूछने पर सबका यही हाल है। आदमी ऊपर—ऊपर ठीक है, भीतर सब अशान्त है। शान्ति कहां है ? देखो, मेरी एक पत्नी स्वभाव से ही वाचाल है, दूसरी चंचल है । वह घर में टिकती नहीं है। आज यहां तो कल वहां । क्या यह परेशानी कम है ? मेरा इकलौता लड़का मेरे से भी आगे है ! उसका नाम कामदेव है । मन्मथ है। तीन लोक पर जिसका आधिपत्य है । बड़े—बड़े व्यक्तियो के लिए भी वह दुर्निवार्य है। क्या वह मेंरे लिए चिन्ताकारक नहीं है ? सोने के लिए शय्या शेषनाग है । सांप पर सोकर क्या कोई निश्चिन्त रह सकता है ? और वह सोना भी समुद्र में ! मेरा वाहन गरुड़ है। गरुड़ और सांप में जन्म जात वैर है । दोनों का ध्यान रखना पड़ता है। नींद कहां ? वह तो निकट ही नहीं आती है। आप कुशल संवाद पूछते हैं । कैसा कुशल ? मैं तो अपने घर का हाल देखकर काष्ठमय बन गया हूं।

**एका भार्या प्रकृति-मुखरा, चञ्चला च द्वितीया,**
**पुत्रस्त्वे कस्त्रिभुवनजयी मन्मथो दुर्निवारः।**
**शेषः शय्या शयनमुदधौ वाहनं पन्नगारिः,**
**स्मारं-स्मारं निजगृहचरित्रं दारुभूतो मुरारिः।**

मेघ ने पूछा—

**कुर्वन् कृषिञ्च वाणिज्यं, रक्षां शिल्पं पृथग् विधम्।**
**कथं सतीं प्रवृत्तिञ्च, गृहस्थः कर्तुमर्हति।।**

—भंते ! कृषि, वाणिज्य रक्षा, शिल्प आदि विविध कार्य करता हुआ गृहस्थ सत्प्रवृत्ति—धर्म—प्रवृत्ति कैसे कर सकता है ?

भगवान् बोले मेघ ! मैंने हिंसा के दो प्रकार बतलाए हैं—अर्थजा हिंसा और अनर्थजा हिंसा। गृहस्थ अनर्थजा हिंसा का परित्याग सहज ही कर सकता है और जितनी मात्रा में वह उसका त्याग करता है उतनी ही मात्रा में उसकी प्रवृत्ति सत् होती है।

अपने लिए, परिवार आदि के पोषण–रक्षण के लिए, राज्य और मित्रों के लिए जो हिंसा की जाती है, वह अर्थजा हिंसा कहलाती है। जो बिना प्रयोजन, मनोरंजन के लिए हिंसा की जाती है वह अनर्थजा हिंसा है। गृहस्थ इससे बच सकता है। गृहस्थ के लिए अहिंसा का विवेक है।

गृहस्थ भिक्षा से अपनी जीविका नहीं चलाता। वह अपनी आजीविका के लिए व्यवसाय करता है। भगवान् ने इसका विवेक देते हुए गृहस्थ को **धम्माजीविया**– आजीविका में धर्म की प्रधानता रखने वाला माना है। वह अत्यधिक हिंसा और अन्याय वाले व्यवसायों को नहीं करता । जैन उपासक शराब, मांस, दास–दासी, वनदाह आदि का व्यापार नहीं करता। जितनी हिंसा से बचा जा सकता है वह बचता है । व्यवसाय मात्र हिंसाप्रसूत है, पर इसे किये बिना भी उसका काम नहीं चलता । वह ऐसा व्यवसाय ही करता है जिसमें उसका 'धम्माजीविया' विशेषण खंडित नहीं होता। गृहस्थ की आचार संहिता में बारह व्रतों का विधान है–

१.अहिंसा अणुव्रत–इसमें हिंसा का अल्पीकरण होता है।

२.सत्य अणुव्रत–गृहस्थ स्थूल असत्य से मुक्त होता है। वह ऐसा असत्य नहीं बोलता जिससे दूसरों का प्राण–वियोजन हो, अथवा अनिष्ट आपादित हो।

३.अचौर्य अणुव्रत–ऐसी चोरी से वह विरत होता है जिससे लोंगो में उसके प्रति घृणा उत्पन्न हो और वह राज्य के द्वारा दंडनीय बने।

४.अब्रह्मचर्य–इसमें परस्त्री और वेश्यागमन का पूर्ण परिहार होता है, व्यक्ति अपनी पत्नी में संतोष करता है।

५.अपरिग्रह अणुव्रत–इसमें परिग्रह की सीमा होती है । दुनियां में धन बहुत है और लालसा को जितना बढ़ाया जाय उतनी ही वह वृद्धिगत हो जाती है। गृहस्थ उपासक अपनी सीमा करता है। इससे उसके लोभ पर नियन्त्रण होता है।

६.दिग्व्रत–पांच अणुव्रतों में स्थूल रूप से मर्यादा की जाती है। विश्व विशाल है। मन की आकांक्षाए अनन्त हैं । आकांक्षा का संवरण करने के लिए गृहस्थ उपासक को क्षेत्र का संवरण भी करना होता है । वह मर्यादित क्षेत्र के बाहर व्यापार आदि नहीं करता। यह मन पर बड़ा नियन्त्रण है ।

७.भोगोपभोग विरति–जीवन सीमित है, पर भोज्य पदार्थ असीम है। मनुष्य को अतृप्ति सताती है। यही दुःख है। उसे भोग–उपभोग का परिमाण करना चाहिए, जिससे उसकी अतृप्ति बढ़े नहीं, दुःख बढ़े नहीं।

८. अनर्थदंड विरति–धार्मिक गृहस्थ को अनावश्यक हिंसा से बचना चाहिए। अनावश्यक हिंसा के मुख्यतःतीन कारण हैं–मिथ्या कल्पना, प्रमाद और अविश्वास । यह व्रत सिखाता है कि श्रमणोपासक कम से कम अनर्थ पाप से बचे। बिना प्रयोजन चलते फिरते प्राणियो को मार डालना, गाली देना, कलह करना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, बत्ती को जला कर छोड़ देना, घी–तेल के बर्तनों को खुला छोड़ देना आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे बचना या परहेज करना अहिंसा की दृष्टि से तो प्रशंसनीय है ही किन्तु व्यवहार की दृष्टि से भी उचित है।

९.सामयिक व्रत–जिससे पापकारी प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का अभ्यास होता है, समभाव का विकास होता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है। यह आत्म–विकास की सुन्दर प्रक्रिया है। पूर्वोक्त व्रतों की अपेक्षा इसमें आत्मा का सान्निध्य अधिक साधा जाता है । इसका कालमान अड़तालीस मिनट का है। इसमें मानसिक, वाचिक और कायिक–समस्त असत्प्रवृत्तियों का परित्याग किया जाता है। यह स्थूल रूप से मुनि – जीवन की–सी साधना है। साधक इस व्रत से समता का अभ्यास करता है। उसका मन लाभ–अलाभ, सुख–दुःख, जीवन–मरण, निंदा–प्रशंसा और मान–अपमान आदि द्वन्द्वों में सम बन जाता है। इस उपासना में मानसिक एकाग्रता की

साधना आवश्यक है । कुछेक लोग सामायिक व्रत में बैठ जाते हैं और मन से सारे विश्व का चक्कर लगा आते हैं । ऐसी उपासना औपचारिक होती है ।

सेठ जी सामायिक की उपासना करने के लिए अपने उपासनागृह में बैठे थे । दस–बीस मिनट के पश्चात् एक आगुन्तक द्वार पर आया और सेठानी से पूछा– सेठ जी कहां हैं ? पत्नी बोली–वे तो अभी चमार की दुकान पर गये हैं । अन्दर बैठे सेठ जी ने सेठानी के शब्द सुने । समता की स्मृति नहीं रही। मन ही मन क्रोधाकुल हो गए। व्रत का कालमान पूरा हुआ। बाहर आते ही पत्नी पर बरस पड़े और उसे इतनी झूठी बात कहने पर उपालंभ दिया। सेठानी बोली–मैं जानती थी कि आप सामायिक में बैठे हैं और यह भी मुझसे छिपा नहीं था कि उस समय आपका मन चमार की दुकान पर चक्कर लगा रहा था । आपके जूते फट गये थे और आप नये जूते खरीदना चाहते थे। अब बताएं, आपका मन चमार की दुकान पर भटकता था या नहीं ? सेठ मौन था । सामायिक की ऐसी उपासना द्रव्य उपासना है, भाव उपासना नहीं है। यही तो कारण है कि दिन में दस–बीस सामायिक करने वालो में भी समता का भाव विकसित नहीं होता।

१०. देशावकाशिक व्रत–उसमें एक निश्चित अवधि के लिए विधिपूर्वक हिंसा आदि का परित्याग किया जाता है। समभाव प्राप्ति का साधन है जागरूकता। जो व्यक्ति पल–पल जागरूक रहता है, वह समभाव की ओर बढ़ता है। पहले आठ व्रतों की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

११. पौषधोपवास व्रत–साधना में पूर्ण उपवास व्रत से युक्त होकर व्यक्ति एक दिन के लिये साधु–चर्या में आ जाता है। उसकी गति–आगति आदि शारीरिक क्रियाएं प्रमादरहित होती है। समभाव की साधना को पुष्ट करने के लिए ऐसे लम्बे समय की अपेक्षा रहती

है । वह इससे पूर्ण हो जाती है । यह साधु–जीवन का पूर्वाभ्यास है। महीने में अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या– ये चार दिन अभ्यास के लिए विशेष निश्चित किए हैं। इन चार दिनों में समभाव की आराधना विशेष तौर पर की जाती है।

१२.अतिथि संविभाग व्रत–गृहस्थ का यह धर्म है कि वह स्वनिर्मित भोजन में से मुनि को आहार–दान करे, वह भी निष्काम भाव से। दान की विशुद्ध भावना से कर्मो का निर्जरण होता है और उत्कट भाव–विशुद्धि से संसार–भ्रमण का अन्त भी होता है। इसमें मुधाजीवी –निष्प्रयोजन दान लेने वाले और मुधादायी–निष्प्रयोजन दान देने वाले होते हैं तो स्वर्ण में सुगंध होती है ।

गृहस्थ उपासक के ये बारह व्रत हैं। इनके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण व्रत और है। गृहस्थ साधक जब देखता है कि उसका जीवन अब अल्प शेष रहा है, शरीर काम नहीं दे रहा है, इन्द्रियां क्षीण हो रही है, कहीं ऐसा न हो कि शरीर मुझे छोड़ दे, बीच में ही विश्वासघात कर चला जाए, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं होशपूर्वक शरीर छोड़ दूं। क्यों न मौत को मैं निमन्त्रण दूं और जागृत रहकर मौत का वरण करूं ! एंसा चिन्तन कर गृहस्थ श्रावक मृत्यु से पहले ही मौत की तैयारी में लग जाता है । इस तैयारी का नाम संलेखना है । इसमें साधक भोज्य पदार्थो से अपने मन को हटाता है । वह अल्पभोग्य पदार्थो से जीवन–यापन करता है। नानाविध प्रयोग कर आमरण अनशन के लिए शरीर को तैयार करता है।

यह देह–विसर्जन की साधना जैन साधना–पद्धति का विशेष अंग है। श्रमण और श्रमणोपासक–सभी इसके लिए पात्र होते हैं। इसमें शारीरिक और मानसिक बल–दोंनो की प्रचुरता अपेक्षित है। मानसिक बल भी उत्कट चाहिए। ऐसा मरण समाधि मरण कहलाता है।

यह सही है कि पूर्ण अहिंसक होना अत्यन्त कठिन कर्म है, लेकिन अविरति से पूर्णतया बचा जा सकता है। बंधन दो प्रकार के हैं–अविरति और प्रवृत्ति। प्रवृत्ति कभी–कभी होती है। कोई दुष्प्रवृत्ति

करे या न करे, लेकिन सूक्ष्मरूप में हमारे अन्तर्मन में वासना आकांक्षा और तृष्णा का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। महावीर उस अविरति को तोड़ने का प्रबल उपदेश देते हैं। वे कहते हैं–अविरति को रोको । तृष्णा के इस द्वार को रोको। ऐसा करने से आदमी लिप्त नहीं होता । अविरति है अत्यागभाव और विरति है त्यागभाव । त्याग से व्यक्ति वितृष्ण होता है। उसमें पदार्थों के प्रति राग–द्वेष नहीं रहता। भगवान कहते है–

**उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टिया मया।**
**दोवि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई।।**

–मिट्टी के दो गोले हैं। एक सूखा और एक गीला है। दोनों को भींत पर फेंका जाता है। जो सूखा होता है वह भींत पर नहीं चिपकता है और जो गीला होता है वह भींत पर चिपक जाता है । यह आसक्ति का स्वरूप है । आसक्ति स्नेह है। स्नेह पर रजकण चिपकते हैं, अनासक्त पर नहीं। वस्तुएं निर्जीव हैं । उनमें न बंधन है और न मुक्ति। बंधन और मुक्ति आशा और अनाशा में है। तीव्र आसक्ति से बंधन भी तीव्र होते हैं। आसक्ति चाहे व्यक्तिगत हो, पारिवारिक हो, सामाजिक हो, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय हो। आसक्ति जितनी कम होगी, बंधन भी कम होगा ।

जैन मुनि स्कंधक ने एक बार गृहस्थ–अवस्था में एक काचर के फल का छिलका उतारा । उन्होंने बड़ी निपुणता से उस छिलके को इस तरह उतारा कि वह अखंड रूप से उतर गया। वे अपनी इस निपुणता पर बहुत प्रसन्न हुए । मन गर्व से भर गया। अहंकार उभर आया। उस अहं से इतने चिकने कर्मो का बंधन हुआ कि मुनि अवस्था में उनके शरीर की चमड़ी उधेड़ी गई। यह आसक्ति का उत्कृष्ट निदर्शन है।

महावीर बार – बार कहते हैं–प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हुआ जा

सकता। आसक्ति की तीव्रता से मुक्त हुआ जा सकता है। यह गृहस्थ–चर्या सहज है। कर्मयोग की बात करना सहज–सरल है, पर उसकी साधना करना कठिन है । कर्म–योग करते–करते भी आदमी आत्मा का सान्निध्य पा लेता है, यदि वह अनासक्त होता है। अनासक्ति कहने से नहीं आती । उसका अभ्यास करना होता है।

एक साधक गुरु के पास आया और साधना के लिए निर्देश देने के लिए कहा। गुरु बोले–इस रिक्त स्थान पर एक मकान बनाओ। स्वयं श्रम करो। शिष्य मकान बनाने में जुट गया। बारह महीने लगे। गुरु आए। मकान देखकर बोले–गिरा दो । शिष्य ने मकान ढहा दिया। गुरु ने दूसरी बार कहा–फिर मकान बनाओ। शिष्य ने ननु नच नहीं किया। दूसरी बार मकान बनाया। फिर गुरु के आदेश से उसे ढहा दिया। तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ । सातवी बार गुरु मकान देखने आए, बोले–तुम्हारा काम बन गया। तुम्हार चित्त मकान में नहीं था। मकान बन रहा था और तुम केवल देख रहे थे। तुम द्रष्टा बन गए। तुम्हारी साधना सफल हो गई।

मकान बनाते–बनाते ही उसका कर्म योग सिद्ध हो गया। आकांक्षा और आसक्ति न जागे, यह है कर्म योग का मर्म । यही है साधना। आसक्त मत बनो। अनासक्त रहो। पर आसक्ति का धागा इतना सूक्ष्म है कि उसको देख पाना सहज–सरल नहीं होता।

## आत्म चिन्तन के तीन सूत्र

मेघ ने कहा–भंते ! साधना का ऐसा सहज कर्म बताएं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति धर्म की आराधना कर सके। महावीर बोले–मेघ ! जब तक शरीर होता है, तब तक क्रिया होती हैं। आवश्यक क्रियाओं को करता हुआ भी मनुष्य धर्म का आचरण अवश्य करे जैसे भोजन आदि क्रियाएं आवश्यक होती हैं, उसी प्रकार आत्मा की साधना भी आवश्यक होती है । व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी साधना का एक क्रम निश्चित करें। उस कर्म का वह अनिवार्यतः पालन करे।

प्रातःकाल शीघ्र उठकर अपने इष्टदेव का स्मरण करे। नमस्कार महामन्त्र की आराधना करे । फिर वह शौच आदि प्रातः कर्म से निवृत होकर आत्म चिन्तन करे। उस चिन्तन के तीन आयाम हैं–

१.मैने क्या किया ?

२.मेरे लिए क्या करना शेष है ?

३.ऐसा कौन सा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूं पर करता नहीं हूं?

आत्म चिन्तन–आत्मनिरीक्षण प्रगति का अनिवार्य अंग है। इससे प्रगति–विकास का अंकन होता है। यदि आत्मनिरीक्षण न हो तो साधक अधीर बन जाता है, वह नहीं समझ पाता कि मैं कहां हूं ? मेरी प्रगति हो रही है या नहीं ? प्रत्येक प्रगति में इन तीनों सूत्रों की उपादेयता सुनिश्चित है। साधक के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना मुड़कर पीछे देखे, वह सफलता का वरण नहीं कर सकता। इसलिए भगवान महावीर के साधक का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और उसे निर्देश दिया। जिसका सुफल है – अनागत कर्म के द्वारों को रोकना और अपने प्रमाद को त्याग कर लक्ष्य की दिशा में सतत अग्रसर होना।

**: विश्राम स्थल :**

पथ लम्बा हो और अपने पास भार हो तो बीच में विश्राम की अपेक्षा होती है। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति करते हैं। साधना का पथ भी निकट कहां है ? अति लम्बा है, विकट है और बाधाओं से भरा हुआ है। लेकिन जब कोई साधक चलने के लिए कमर कस लेता है तब वह स्वतः सरल बन जाता है। वह अपने विश्राम स्थलों में विश्राम करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। विश्राम स्थल चार है।

१.भार को बांए से दांए कन्धे पर रखना।

२.देह–चिन्ता से निवृत्त होने के लिए भार को उतार कर नीचे रखना।

३.सार्वजनिक स्थान में विश्राम के लिए ठहरना ।

४.स्थान पर पहुंच कर उस भार को उतार देना ।

इसी प्रकार श्रमणोपासक के चार विश्राम ये हैं–

१.शीलव्रत, अणुव्रत तथा उपवास ग्रहण करना ।

२.सामायिक और देशावकाशिक व्रत लेना ।

३.अष्टमी,चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिक्रमणपूर्वक पौषध करना ।

४.मारणान्तिक संलेखना करना–मरने की पूर्व तैयारी करना।

ये विश्राम–स्थल श्रमणोपासक की साधना–पद्धति का पूर्ण निरूपण करते हैं। साधक इस क्रम को बढ़ाता हुआ संयम में गति करता है और अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता है।

**: तीन मनोरथ :**

भगवान महावीर ने सर्वत्र अनेकान्त कर प्रयोग किया है। वे एकान्त, किसी भी कार्य को न अच्छा कहते हैं और न बुरा। बुरे में भी अच्छाई का दर्शन हो सकता है और अच्छाई में भी बुराई का। मनोरथ अभिलाषा, भावना अच्छी भी होती है बुरी भी। मन का जगत से जुड़ना या सांसारिक पदार्थो की इच्छा स्वस्थ नहीं है वह भौतिकवाद है। साधक मुमुक्षु होता है उसमें मुक्ति की अभिलाषा होती है। बंधन मुक्ति की अभिलाषा प्रशंसा है। वह सब के लिए वरणीय है। जैसी हमारी इच्छा होती है, संकल्प होता है हमारा अवचेतन मन शनै–शनै उसमें हमें प्रेरित कर देता है। एक साधक के लिए स्वस्थ मनोरथों का अनुचिन्तन निरन्तर अपेक्षित है। जिससे उसके सामने लक्ष्य सदा स्पष्ट रहे और वह उस दिशा में बढ़ता ही रहे। लक्ष्य की विस्मृति ध्येय में बाधक बन जाती है। स्वस्थ सोच के लिए ये मनोरथ मील के पत्थर हैं।

१.मैं कब(आरम्भ और) परिग्रह को छोड़ूंगा ?

२.मैं कब मुनि बनूंगा ?

३.मैं कब भक्तपान का परित्याग कर समाधि–मरण को प्राप्त करूंगा ?

इनका अनुचिन्तन जब पुष्ट होता है तब गृहस्थ साधक की जीवन–चर्या भिन्न प्रकार की हो जाती है। उसमें आसक्ति कम होने लगती है। संयम की ओर अभिमुखता होती है और अभय का भाव बढ़ता है। मृत्यु से बढ़कर दूसरा कोई भय नहीं है। इस अनुचिन्तन से श्रावक का भय मिट जाता है और वह होश में मृत्यु को स्वीकार करता है। मुनि अवस्था पूर्ण विरति की अवस्था है। वह एक ही दिन में उस अवस्था तक नहीं पहुंच सकता। अभ्यास से वह पुष्ट होती है। यह निराशा अर्थात् वितृष्णा की अवस्था है। गृहस्थ के साधना–क्रम का यह छोटा सा उपक्रम है। साधक इस प्रकार साधना करता हुआ सत्य तक पहुंच जाता है। हम इसे सुने नहीं, जीवन में अपनाने का प्रयत्न करें। केवल श्रवण या ज्ञान त्राण नहीं देता। फलदायक होता है आचरण। जो जाना जाता है, सुना जाता है, उसको जीवनगत करने का प्रयास ही साधना है। महावीर की वाणी आज भी उस साधना की ओर साधक को प्रेरित कर रही है। साधना में न गृहस्थ का महत्त्व है और न साधु का। साध ाना में महत्त्व है आशा के अल्पीकरण का, आशा के त्याग का।

## आत्मौपम्य दृष्टि

भगवान् महावीर की पुण्य सन्निधि। जहां सहज शान्ति है, मंगल है, जहां सबका चित्त प्रसन्न हो जाता है। व्यक्ति एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। मेघ के लिए वह सन्निधि परम मंगलकारिणी सिद्ध हो रही है। उसकी आस्था ने एक नई करवट ली। बाहर से हट कर वह आत्मा में स्थित हो गया। आत्मा अब उसके लिए कोई रहस्यमय नहीं रहा। अतीत जन्म की स्मृति से चित्त स्थिर हो गया। आत्मा के रहस्यों/तत्वों को समझने में उसकी जिज्ञासा प्रबलतम बनती चली गई। आज वह विशंक बन गया। चित्त जिज्ञासाओं से करीब–करीब उपरम हो गया। अब वह मानसिक समाधि के निकट स्थित हो रहा है। भगवान् महावीर उसे आत्म–स्वरूप का दिशा–दर्शन दे रहे हैं।

एक राजा विदेश गया। वहां उसने विविध देशों की यात्रा की। उसके चार रानियां थी । काफी समय हो गया । राजा स्वदेश की ओर प्रस्थान करने वाला था । उसने रानियों के नाम एक–एक पत्र लिखा। मैं जल्दी लौट रहा हूं। तुम्हे जो चीजें चाहिए, मुझे सूचित करो।

पहली रानी ने पत्र लिखा–आप मेरे लिए एक मूल्यवान हार लेकर आयें। दूसरी ने लिखा–बाजू बंध और एक सुन्दर अंगूठी । तीसरी ने लिखा–प्रसाधन–सामग्री और कुछ सुन्दर साडियां। सबसे छोटी रानी ने लिखा–आपके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

यात्रा संपन्न कर राजा नगर में लौटा। उसके पास बहुत सामान

था। उपहारों में प्राप्त ढेर सामग्री थी । राजा ने सब सामग्री अपने पास मंगवा ली । रानियां देखने को बड़ी उत्सुक थी। जो–जो चीजें रानियो ने मंगाई थी, राजा ने यथावत् सबको दे दी। शेष सारा सामान छोटी रानी को सौंप दिया। राजा भी उसके पास चला गया । रानियों को राजा का यह व्यवहार बड़ा अटपटा लगा। राजा ने कहा–तुम क्यों उदास बनती हो ? देखो, जो तुमने मंगाया, वह मैंने दे दिया। इसने कुछ नहीं मांगा। केवल मुझे मांगा। इसने लिखा–आप आ जाएं। मुझे केवल आपकी चाह है। अब जिसे मेरी चाह है, मैं वहीं रहूंगा और सब सामान भी वहीं रहेगा। रानियां अपने–अपने कक्ष में लौट गई। उन्हें एक बोध–पाठ मिल गया।

तब भगवान् कहते हैं–मेघ ! जिसे आत्मा प्राप्त हो जाता है उसके पास सब कुछ चला आता है। आत्मा के सिवाय और है भी क्या ? जहां आत्मा है वहां धर्म है, अहिंसा है, सत्य है, ब्रह्मचर्य हे, जप है, तप है। आत्मा नहीं है, वहां कुछ भी नहीं है। आत्मा की प्राप्ति उसे ही होती है जो स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से ऊपर उठ जाता हैं । इन्द्रिय–विषयों में अटका रहने वाला व्यक्ति आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता। जो आत्मा को प्राप्त नहीं है वह आत्मवित् भी नहीं है। वही आत्मवित् है जिसे आत्मा उपलब्ध है–

**स्पर्शा रूपाणि गन्धाश्च, रसा येन जिहासिताः ।**
**आत्मा तेनैव लब्धोस्ति, स भवेदात्मवित् पुमान् ।।**

मेघ ! तुम आत्मा के स्वरूप को उपलब्ध करो। उसे जानो। उसे जानने के पश्चात् ही तुम्हारे जीवन में एक नये प्रकाश की किरण फूटेगी। यह संसार फिर तुम्हारे लिए द्वैत नहीं रहेगा। तुम इस शरीर के भीतर छिपे परमात्मा का अनुभव करने लगोगे। जो तुम्हारे भीतर है, वही सबके भीतर है और जो सब के भीतर है वही तुम्हारे भीतर है। मनुष्य का यह भ्रम है कि मरने वाला और मारने वाला भिन्न है।

वस्तुतः दो नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान हैं। न आत्मा कोई छोटा है और न बड़ा। न आत्मा पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक हैं। न आत्मा वर्णवान् (काला, सफेद, हरा आदि) है। न वह गोल है, न त्रिकोण है, न शब्द, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श है। वह अमूर्त सत्ता द्रव्य है। न आत्मा नया है और न पुराना है, शरीर की दृष्टि से नया–पुराना है। आत्मा अनन्त ज्ञान–संपन्न है। वह शुभ–अशुभ कर्मो के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तित होता रहता है। आत्मा ज्ञान–दर्शनात्मक है, वह सबमें है। अन्तर तरतमता का है।

भगवान् महावीर कहते हैं–आत्म–स्वरूप की दृष्टि से किसी भी प्राणी में कोई अन्तर नहीं है। उस स्थिति में कोई यह कहे कि छोटे प्राणी के वध करने में दोष कम होता है और बड़े को मारने में अधिक दोष, अथवा दोनों में समान होता है। यह कथन संगत नहीं है।

**ये केचित् क्षुद्रका जीवा, ये च सन्ति महालयाः ।**
**तद्वधे सदृशो दोषोऽसदृशो वेति नो वदेत् ।। १५/२७**

पाप अपने अध्यवसायों पर निर्भर है। अध्यवसायों में राग–द्वेष की तरतमता कितनी है ? अध्यवसाय जितने क्रूर, क्रूरतर और क्रूरतम होते हैं, पाप का आगमन भी उसी मात्रा में होता है। हरिणी का वध कर राजा श्रेणिक अपने कौशल के प्रति गर्वित हुआ और उसने नरक का आयुष्य बांध लिया। अर्जुन माली ने मनुष्यों और स्त्रियों को मारकर भी तप के द्वारा कर्म–वर्गणा को बिखेरकर स्वर्ग को प्राप्त कर लिया। कर्म के बन्धन में आसक्ति की मुख्यता है। इसलिए विज्ञ व्यक्ति जीव–वध में समान या असमान पाप का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

अहिंसा के प्रतिफलन में आत्म–स्वरूप की अनुभूति बहुत कारगर होती है। वहां कोई दूसरा नहीं रहता। अहिंसा का सूक्ष्मतम परिपालन अद्वैत की दशा में ही होता है। जो सबमें अपना स्वरूप देखता वह कैसे किसी को संतप्त कर सकता है ? कैसे किसी का वध कर

सकता है ? कैसे दूसरों पर अधिकार कर सकता है, अनुशासन कर सकता है ?

भगवान् महावीर ने इसका बहुत स्पष्ट और सुन्दरतम प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं–

**हन्तव्यं मन्यसे यं त्वं, स त्वमेवासि नापरः ।**
**यमाज्ञापयितव्यञ्च, स त्वमेवासि नापरः ।**
**परितापयितव्यं यं, स त्वमेवासि नापरः ।**
**यञ्च परिग्रहीतव्यं, स त्वमेवासि नापरः ।**
**अपद्रावयितव्यं यं, स त्वमेवासि नापरः ।**
**अनुसंवेदनं ज्ञात्वा, हन्तव्यं नाभिप्रार्थयेत् ।। १५/२८, २६, ३०**

असुर और देवता का उपाख्यान इस विषय के स्पष्टीकरण में अत्यन्त मननीय है। दोनों एक आत्मद्रष्टा ऋषि के समीप पहुंचे। ऋषि से आत्म–बोध की याचना की। संत ने कहा–तत्त्वमसि–वह तू ही है। आत्मा तुम्हारे से पृथक कहां है ? दोनों यह सुनकर चले गए। दोनों को उपदेश से संतोष हो गया। दोनों ने समझा–यह दृश्यमान शरीर ही आत्मा है। असुर का चिन्तन इससे आगे नहीं बढ़ा। वह देह पर रूक गया। उसने देह को ही आत्मा मान लिया। फलतः वे योग विलास में उलझ गए। भौतिकवादी बन गए। देव का चिन्तन आगे बढ़ा। उसने सोचा–ऋषि इस शरीर के लिए नहीं कह रहे हैं। यह शरीर मरणधर्मा है, परिवर्तनशील है। बाल्यादि अवस्थायुत है। वह ऋषि के पास आया और पूछा–क्या 'आत्मा' शब्द से आपका अभिप्राय इस देह से है ? मैंने अनुभव किया कि आत्मा शरीर की तरह विनश्वर और मरणधर्मा नहीं है। ऋषि ने फिर वही कहा–'वह तू ही है।' फिर उसने प्राण पर विचार किया। प्राण भी उसके सहयोग से स्पन्दित होता है। मन भी वह नहीं है। क्योंकि मन चंचल है। इन्द्रियां भी नहीं है। इस प्रकार धीरे–धीरे चिन्तन का प्रवाह आगे बढ़ता गया। बढ़ते–बढ़ते वह मंजिल पर पहुंच गया। सबसे आगे जो

है वह मैं हूं। उससे आगे कोई नहीं है। वह सबमें है। सबको अपने समान समझो। अपने समान समझने वाले और उसमें जीने वाले देव बन गए। शरीर पर भटकने वाले असुर बन गए।

भगवान् महावीर ने उसी अद्वैत की ओर संकेत किया है। 'वह तू ही है।' खलील जिब्रान ने लिखा है–"अच्छी तरह आंख खोलकर देख, तुझे हर सूरत में अपनी सूरत नजर आयेगी"। आंख खुले बिना व्यक्ति राग–द्वेष, प्रमाद, क्रोध, अहंकार, लोभ, मात्सर्य आदि चित्तवृत्तियों का गुलाम बना रहता हैं। उसकी दृष्टि में आत्मा–आत्मा के प्रति जो तादाम्य स्थापित होना चाहिये, वह नहीं हो पाता। इसी कारण अहिंसा, सत्य आदि धर्मो की फलश्रुति जीवन में घटित नहीं होती।

वर्तमान युग की अनेकानेक समस्याएं आत्मत्त्व के अज्ञान के कारण से उद्‌भूत है। धर्म शास्त्रों में प्रतिबद्ध है। अद्वैत और वेदान्त जीवन व्यवहार में नहीं है। स्वामी रामतीर्थ विदेश यात्रा से लौटकर आये। उनसे किसी से पूछा–वहां क्या देखा ? राम ने कहा–वहां मैंने वेदान्त को जीवन–व्यवहार में देखा और यहां पुस्तकों में देख रहा हूं। क्या वेदान्त के व्यवहार में प्रतिफलन से मनुष्य–मनुष्य के बीच दूराव बढ़ सकता है ? क्या जीवन–व्यवहार अशुद्ध बन सकता है ? क्या किसी के साथ धोखा, छल–कपट और अनैतिक आचरण किया जा सकता है ? क्या कोई किसी को दुःख दे सकता है ? क्या कोई किसी की हत्या कर सकता है ? ऐसे समस्त प्रश्नो का समाधान आत्म–स्वरूप के दर्शन में निहित है।

महावीर के विचारों में मत का कोई आग्रह नहीं है। वे नहीं कहते हैं कि मेरे धर्म में आओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी। उनका प्रतिपाद्य केवल इतना ही है कि अपने स्वभाव में आओ। अपना स्वभाव ही तुम्हें मुक्त करेगा। यह स्वभाव राग–द्वेष नहीं है। ज्ञान और चारित्र मुक्ति देता है। ज्ञान और चारित्र का आराधक/उपासक ही मुक्ति को प्राप्त होता है। चारित्र से महावीर का अभिप्राय है–समस्त राग–द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि कषायों से मुक्ति। विजातीय तत्त्व का विसर्जन।

गीता की भाषा में तीन गुणों से पार जाना। ज्ञान और चारित्र से रहित व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता। वह चाहे किसी धर्म में हो। मुक्ति का द्वार सबके लिए खुला है। राग–द्वेष के पार ले जाए, वही धर्म है। नाम विशेष धर्म के साथ बंधकर कोई व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता।

**इदं दर्शनमापन्नो, मुच्यते नेति संगतम् ।**
**श्रुतशील-समापन्नो, मुच्यते नात्र संशयः ।। १५/३७**
**श्रुतशीलः समापन्नः, सर्वथाऽऽराधाको भवेत् ।**
**द्वाभ्यां विवर्जितो लोकः, सर्वथा स्याद् विराधकः ।। १५/३८**

परमशान्ति, आनन्द और जीवन–विकास में चित्त–शुद्धि की अत्यन्त उपादेयता है। चित्त–शुद्धि के लिए साधक को सतत शुद्ध–भावों में निमग्न रहना चाहिए। भगवान् महावीर देखते हैं, जानते हैं और मनुष्य की दुर्बलता से परिचित हैं। भाव–शुद्धि भी वही व्यक्ति कर सकता है जिसकी दृष्टि जगत् से ऊपर उठी हैं । जो लोक–प्रसिद्धि चाहता है, आवेगों–आवेशों में पलता है, हास्य–कौतूहल में जिसे रस/तृप्ति मिलती है, जो छोटी–छोटी बातों को लेकर उत्तेजित हो जाता हे, ज्ञानी–जनों के प्रति विनीत नहीं है, उनका दोष देखता है वह व्यक्ति अपने भावों को निर्मल नहीं रख सकता। भगवान् महावीर ने ऐसी कुछ भावनाओं का उल्लेख करते हुए कहा–कान्दर्पी, आसुरी, अभियोगी, संमोही आदि भावनाएं अशुभ हैं, बन्धनकारक हैं, चित्त को मलिन करने वाली हैं, व्यक्ति के जीवन को अधस्तल में ले जाने वाली हैं और उसे अपने आपसे दूर रखने वाली हैं।

पवित्रता के सम्बन्ध में जिनका चिन्तन शून्यवत् है, वे केवल क्षुद्र–हित देखते हैं, आमोद–प्रमोद में व्यस्त रहते हैं। सत्य में न जिनकी आस्था है और न सत्य के प्रति जो उन्मुख हैं, वे इन भावनाओं से कैसे विमुख हो सकते हैं। राबर्ट रिप्ले के दिमाग में

प्रसिद्धि का भूत सवार हो गया। इसके लिए उसने अनेक मनोरंजक कार्य किये। अखबारों में प्रसिद्धि मिल गई। किन्तु अन्ततोगत्वा उसे कहना पड़ा कि मुझे बहुत कुछ मिला, किन्तु आत्म–तोष नहीं मिला। अन्तिम निष्कर्ष करीब–करीब सबके जीवन में ऐसा ही आता है। लेकिन जीवन की डोर हाथ से छूटने के बाद आदमी कुछ कर नहीं पाता। वह यों ही चला जाता है।

भगवान् महावीर अनुभवी गुरु थे। उन्होंने सब कुछ अपने भीतर अनुभव किया। जो एक व्यक्ति के भीतर है वही सबके भीतर है। कुछ लोग स्वयं के भीतर प्रवेश करते हैं। अपनी एक–एक चित्त–वृत्ति का सूक्ष्मतम अवलोकन कर लेते हैं। जिन्हें इनका स्पष्ट ज्ञान होता है, वे यह जानते हैं कि ये वृत्तियां सबके भीतर हैं। आदमी वृत्तियों के आधार पर कार्य करता है। वृत्तियां प्रेरित करती हैं। मनुष्य उनके अधीनस्थ होकर तदनुरूप प्रवृत्त हो जाता है। महावीर ने यहां 'संज्ञा' के नाम से चित्त–वृत्तियों का उल्लेख किया है। मनोवैज्ञानिक भी व्यक्ति में चौदह प्रकार की मूल प्रवृत्तियां मानते हैं। जितनी प्रवृत्तियां हैं, उतने ही उनके मूल संवेग हैं।

भगवान् महावीर ने यहां चार संज्ञाओं, वृत्तियों की चर्चा की है। वे हैं–आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। चौदह मूल प्रवृत्तियों में क्रमशः उनका स्थान है–आहारान्वेषण वृत्ति, पलायन वृत्ति, कामवृत्ति और उपार्जनवृत्ति। ये वृत्तियां/संज्ञाएं आन्तरिक और बाह्य कारणों से विकसित होती हैं। इनका यहां बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। संज्ञाओं से मुक्त होने के लिए उनकी उत्पत्ति के कारणों से अपरिचित रहना भी समुचित नहीं है। आन्तरिक और बाह्य कारणों को जानकर ही हम उनसे मुक्त हो सकते हैं। इनसे मुक्त हुए बिना इष्ट की प्राप्ति नहीं होती, अपना स्वामित्व भी नहीं सधता और न अशान्ति, तनाव व दु:खों से भी व्यक्ति छूट सकता हैं। वृत्तियों

के निरोध के बिना योग भी कैसे सध सकता है।

**आहार संज्ञा की अभिलाषा-जागृति के चार कारण हैं-**

१.खाली पेट होना।

२.भोजन सम्बन्धी बातें सुनना तथा भोजन को देखना।

३.क्षुधा वेदनीय कर्म का उदय।

४.भोजन का सतत चिन्तन करना।

**भय संज्ञा के चार कारण हैं-**

१.बल की कमी/शक्ति की अल्पता

२.भय सम्बन्धी बातें सुनना तथा भयानक दृश्य देखना।

३.भय वेदनीय कर्म का उदय।

४.भय का सतत चिन्तन करना।

**मैथुन संज्ञा के चार कारण हैं-**

१.मांस और रक्त की वृद्धि।

२.मैथुन सम्बन्धी बातें सुनना तथा मैथुन बढ़ाने वाले पदार्थो को देखना।

३.मोह कर्म का उदय।

४.मैथुन का सतत चिंतन करना।

**परिग्रह संज्ञा के चार कारण हैं-**

१.अविमुक्तता–निर्लोभता न होना।

२.परिग्रह की बातें सुनना और धन आदि को देखना।

३.लोभ–वेदनीय कर्म का उदय।

४.परिग्रह का सतत चिन्तन करना।

संज्ञाओं को वर्तमान – वैज्ञानिक भाषा में वृत्ति कह सकते हैं। वृत्तियां अनेक हैं। उन सबका मूल कारण है – कर्म – कारण

शरीर। बाहर के निमित्त उन्हें उत्तेजित करते हैं। उत्तेजना में सहयोगी बनते हैं। कभी–कभी बिना बाह्य निमित्त के भी वे कर्म के कारण जागृत हो जाती है। कर्म मूल है। कर्म की श्रृंखला लम्बी है। अतः वृत्तियों – संज्ञाओं की परम्परा भी लम्बी है। समस्त प्राणियों में ये विद्यमान है। कर्म न हो तो संज्ञाएं भी नहीं है। वृत्तियों का परिज्ञान कर साधक को उनके निवारण में श्रमशील होना चाहिए, तभी वह इनके जाल से मुक्त हो सकता है।

# मानसिक प्रसन्नता

चातुर्मास का समाहार हो रहा है और हम संबोधि का भी समाहार कर रहे हैं। समुद्र–मंथन से चौदह रत्न मिले और उन रत्नों से बड़े–बड़े व्यक्तियों को संतुष्ट किया गया। संबोधि समुद्र है। उसके मंथन से ही एक रत्न निकला है और वह रत्न चौदह रत्नों से अधिक मूल्यवान है। वह रत्न है–आत्म–रमण, मनःप्रसाद। वे रत्न बाह्य सौन्दर्य के प्रतीक थे और यह रत्न आन्तरिक सौन्दर्य का प्रतीक है। इससे आदमी आत्म–वैभव से तृप्त होता है। एक कवि ने कल्पना की है–

**पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम् ।**
**मूढ़ैः पाषाणखण्डेषु, रत्नसंज्ञा भिधीयते ।।**

इस पृथ्वी पर तीन रत्न हैं – जल, अन्न और सुभाषित। धन, मुक्ता आदि को रत्न मान लिया, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से जल आदि रत्न ही यथार्थ रत्न है। किसान ने भगवान से प्रार्थना की कि – आप स्वाति नक्षत्र में जल बरसायें, जिससे मुक्ता ही मुक्ता हो। योग से ऐसा ही हो गया। अनाज की जगह सर्वत्र मोती ही मोती हो गए। सबने अपने घरों को मोतियों से भर दिया। शाम को पत्नी से कहा – रोटी बनाओ। घर में अनाज था ही नहीं। पत्नी ने कहा – अनाज लाओ। अनाज कहां मिले ? किसान की बुद्धि ठीक हो गई। उसने प्रार्थना के स्वर में कहा – भगवन् ! आप अपनी व्यवस्था के

अनुसार चलें, इसी में हम सबका भला है, कल्याण है। हमारी मांगे विवेक शून्य होती है, स्वार्थ परक होती है।

अन्न के संकट से भी जल का संकट आज विकट है। सुभाषित–अच्छी वाणी का भी अभाव जैसा है। मनुष्य इन तीन रत्नों की उपेक्षा कर पत्थर के टुकड़ों को रत्न कहता है। रत्न है आत्म–बोध। भगवान महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्न कहा है। बंधनसे मुक्त कराने वाले ये तीन रत्न ही है। मनुष्य की असली संपदा यही है। ऐसे व्यक्तियों के दर्शन दुर्लभ है। ऐसे व्यक्तियों के दर्शन से ही आत्मशान्ति मिलती है, मन प्रसन्न होता है और हृदय संताप से मुक्त हो जाता है। कबीर के शब्द कितने सटीक है –

**कबिरा सौ कोसां फिर्यो, मिनखां तणो सुकाल ।**
**जिणनै देख्यां मुख ठरै, तिणरो बड़ो अकाल ।।**

–मैं सैकड़ों कोसों में घूमा हूं। मुझे मनुष्यों का अकाल नजर नहीं आया। किन्तु ऐसे मनुष्य कहीं नहीं मिले जिन्हें देखकर दिल शांत होता हो, आंखें तृप्त होती हों।

यह अकाल इसलिए होता है कि लोगों को भीतर वाले का पता नहीं है। सबमें भीतर वाले का अकाल है।

संबोधि में उस भीतर वाले की खोज है, भीतर वाले का अवबोध है। संबोधि–सागर के मंथन का निचोड़ अंतिम सोलहवें अध्याय में है। यदि व्यक्ति संबोधि का पूरा पारायण न कर सके तो उसे सोलहवें अध्याय का पारायण कर ही लेना चाहिए। यह पारायण उसको भीतर से जोडने में पर्याप्त सिद्ध होगा।

मेघ ने अपनी जिज्ञासाओं के समाधान के लिए बहुत लंबी यात्रा तय की है। उसने महावीर से पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। उसने देखा कि वह उस जीवन से गुजर रहा है जहां उसका मन अत्यन्त चंचल और उद्विग्न था। यदि उसकी यह स्थिति है तो पारिवारिक

और सामाजिक जीवन में रहने वालों की क्या स्थिति होती होगी ? क्या वे मन की उद्विग्नता से पीड़ित नहीं हैं ? क्या उनका ज्ञान शांत है ? वह यह भी जान गया कि पदार्थों से होने वाला सुख या प्रसाद अवास्तविक और क्षणिक है, आता है और चला जाता है। इसमें स्थिरता नहीं है। मन एक क्षण में प्रसन्न होता है और एक क्षण में अप्रसन्न, एक क्षण में सुखी होता है और दूसरे क्षण में दुःखी। इसलिए वह भगवान् से पूछता है–

**मनः प्रसादमर्हामि, किमालम्बनमाश्रितः ।**
**कथं प्रमादतो मुक्तिमाप्नोमि ब्रूहि मे विभो ! १६/१**

–भगवन् मुझे वह प्रसाद चाहिए, वह आनन्द चाहिए जो स्थायी हो, शाश्वत हो। प्रभो ! मानसिक सुख और आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है और कैसे प्रमाद से मुक्ति मिल सकती है ! आप मुझे इसका अवबोध दें।

निर्बाध आनंद की दो मुख्य बाधाएं हैं–मानसिक तनाव और प्रमाद। प्रमाद है इसलिए मानसिक तनाव है और तनाव है इसलिए प्रमाद है। दोनों जुड़े हुए हैं। ऐसा नहीं होता कि मानसिक तनाव हो और प्रमाद न हो या प्रमाद हो और मानसिक तनाव न हो। दोनों कार्य भी हैं और कारण भी हैं। प्रमाद कारण है, तनाव कार्य है। तनाव कारण है, प्रमाद कार्य है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि सभी दुःखों का मूल है प्रमाद ।

इसलिए मेघ ने मूल को पकड़कर पूछा–भंते ! आप ऐसा उपाय बताएं कि मेरा प्रमाद हट जाए और मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि हो जाए। स्वास्थ्य का मूल अर्थ आरोग्य नहीं है। उसका अर्थ है–अपने आप में ठहरने की अवस्था। प्रसाद का अर्थ है–प्रसन्नता। प्रसन्नता का अर्थ है–निर्मलता। पानी जितना प्रसन्न होगा, निर्मल होगा, उतनी ही स्पष्टता से वह प्रतिबिम्ब को पकड़ सकेगा। जब

आकाश प्रसन्न होता है, स्वच्छ और निर्मल होता है तब चंद्रमा और अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। व्यक्ति भी जितना प्रसन्न होगा, उसके भीतर आत्मा की ज्योति जगमगाती रहेगी। जब वह अप्रसन्न होता है तो आत्मा भी अप्रसन्न, अस्वच्छ होती है।

महावीर ने मेघ की जिज्ञासा सुनकर कहा–

**अनन्तानन्दसम्पूर्ण, आत्मा भवति देहिनाम् ।**
**तच्चित्तस्तन्मना मेघ ! तदध्यवसितो भव ।। १६/२**

–मेघ ! आत्मा अनंत आनंद से संपन्न है, परिपूर्ण है। उसी में तू अपने मन को लगा, चित्त को रमा, उसी में अपने अध्यवसायों को संजोए रख।

'तदात्म होना'–यह छोटा–सा सूत्र भगवान् ने दिया। भोजन करते हुए, चलते हुए, बैठते हुए, सोते हुए–सभी क्रिया–कलाप करते हुए आत्मा का ध्यान रखना, इसमें सारी साधना समा जाती है। संबोधि का पूरा सार इस एक सूत्र में आ जाता है। जो व्यक्ति उस अनन्त आनन्दमय आत्मा से अपना चित्त, मन, वाणी और शरीर को जोड़ देता है, उसका काम सिद्ध हो जाता है। उसको लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती हैं। यह सूत्र छोटा–सा है, पर इसे साधना बहुत कठिन है। इसके आचरण के लिए बहुत बड़ी तैयारी चाहिए। अप्रमाद और पूर्ण जागरुकता चाहिए। चौबीस घंटों में आदमी यदि कुछ क्षणों के लिए भी आत्मा की स्मृति रखे, अप्रमाद में जीए, जागरुकता रखे तो उसका बेड़ा पार हो सकता है। पर प्रायः मनुष्यों को जागना और सोना, खाना और पीना, जीना और मरना–सारा अनात्म अवस्था में होता है। वह न आत्म–अवस्था में सोता है और न आत्म–अवस्था में जागता है। सारा क्रियाकलाप वह बेहोशी में करता है। बेहोशी है अनात्म अवस्था। इसलिए महावीर कहते हैं–मेघ ! तू आत्मा में स्थिर बन। आत्मा के लिए हितकर बन, आत्मयोगी बन, आत्मा के लिए

पराक्रम करने वाला बन, ध्यानलीन और स्थिर अध्यवसाय वाला बन।

मेघ बोला—प्रभो ! यह सूत्र सीधा है पर है कठिन। आत्मा में मन को निरन्तर लगाए रखना कठिन होता है। दूसरी बात है कि उसकी झलक प्राप्त हुए बिना उसमें एकाग्र भी नहीं हुआ जा सकता। आप और सरल मार्ग बताएं।

भगवान् ने कहा—मेघ ! दो मार्ग हैं एक है प्रवृत्ति का मार्ग और दूसरा है निवृत्ति का मार्ग। मन, वाणी और शरीर से सम्यक् चेष्टा करना, यह है सम्यक् प्रवृत्ति का मार्ग और इन तीनों की गुप्ति करना, संवरण करना—यह है निवृत्ति का मार्ग। दोनों उसी आत्मरमण के हेतु हैं।

सम्यक् प्रवृत्ति का मुख्य बिन्दु है—जागरुकता, होश। जो व्यक्ति बेहोशी में न बोलता है, न चलता है, न खाता—पीता है, उसकी सारी प्रवृत्तियां सम्यक् होती हैं और जो बेहोशी में कार्य करता है, उसकी प्रवृत्तियां असम्यक् होती हैं। मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों में सतत जागरूक रहना, यह सम्यक् प्रवृत्ति का मार्ग है और मन, वचन और काया की चेष्टाओं को भीतर में समेटते जाना, यह निवृत्ति का मार्ग है। यह आत्मा में स्थित होने का और आत्मा से युक्त होने का मार्ग है। जो सम्यक् प्रवृत्ति करता है वह आत्महित के लिए प्रवृत्त होता है और जो निवृत्ति करता है वह भी आत्महित के लिए निवृत्त होता है। दोनों मार्ग आत्म—साक्षात्कार के हैं।

महावीर ने कहा—मेघ ! मानसिक प्रसाद—स्वास्थ्य या आनन्द के लिए तू इन बातों पर ध्यान दे। तू नये सिरे से कलहों में प्रवृत्त मत हो और जो पुराने कदाग्रह हैं, कलह हैं, उनका तू उपशमन कर।

महावीर का यह कथन आत्म—शुद्धि के साथ—साथ व्यवहार शुद्धि की भी पृष्ठभूमि तैयार करता है। आदमी का रस है कलह में। वह पुराने कलहों को बनाए रखने और नये कलह को उत्पन्न करने में अपनी शान समझता है। उसमें उसे अपनी शक्ति का अतिरिक्त भान होता है। यह सारा दुःख का ही मार्ग है। कलह कलह को पैदा

करता है। इससे वैर बढ़ता है और आदमी अशान्त बन जाता है।–! मानसिक प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए तू क्रोध आदि मानसिक वेगों, चुगली और असहिष्णुता को छोड़ ये सारे अनर्थ के घटक हैं।

क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, घृणा, चुगली करना–ये सारी तामसिक वृत्तियां हैं। तामसिक वृत्ति वाला आदमी कभी शांत नहीं हो सकता। रावण विद्वान् था, पर अहंकारी भी कम नहीं था। उसने जान लिया था कि राम परमात्मा हैं, फिर भी राम का भजन उससे नहीं हो सका। उसने सत्य को स्वीकार करते हुए कहा–**न होइहिं भजनु तामस देहा**–मैं तामसिक प्रकृतिवाला हूं। मेरे से परमात्मा का भजन नहीं हो सकता। यह यथार्थता का स्वीकरण उसकी महत्ता का द्योतक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट–ये जहां होते हैं, जिस व्यक्ति में होते हैं। वह कभी शांति का जीवन नहीं जी सकता। उसका मन कभी स्वस्थ नहीं होता। हो भी कैसे, जब ये मैल उसके मन में भरे पड़े हैं ! मानसिक स्वास्थ्य के लिए इससे छुटकारा पाना आवश्यक होता है।

: चित्त की स्थिरता में मुद्राक्षों की भूमिका : –

मुद्राएँ शरीर की आकृति विशेष है। उनकी उत्पत्ति सघन ध्यान की स्थिति में या साधक किसी विशिष्ट भावावेश में होता है तब होती है। वह सहज अवस्था होती है। दूसरे उनका अनुकरण कर उस स्थिति की अनुभूति में संलग्न होते है। वे मुद्राएं भी साधक की साधना में सहयोग करती है। इसलिए साधकों के लिए करणीय हो जाती है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि वे सबके लिए समान ही हो। गुरू–परम्परा से उनमें भिन्नता भी मिलती है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि चित्त की स्थिरता में उनका योगदान असंदिग्ध है।

अनेकों ने उनका प्रयोग किया है और आज भी कर रहें है। यह अनुभवात्मक प्रक्रिया है। इसकी परम्परा सहस्त्रों वर्षो से चली आ रही है। भगवान महावीर ने मानसिक शान्ति–समाधि के लिए यहां एक मुद्रा का निर्देशन दिया है। मेघ ! तू दोनों पैरों को सटाकर, दोनों

भुजाओं को फैलाकर, थोड़ा झुककर खड़ा रह, फिर अपनी दृष्टि को स्थिर बना। इस मुद्रा से भी मन प्रसन्न होता है, स्वस्थ होता है।

इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए अनेक सूत्र हैं। जिस साधक को जो सूत्र अनुकूल लगे वह उसको अपनाकर आगे बढ़े।

आदमी के दुःखी होने के अनेक कारण बनते हैं। जब वह जो चाहता है, वह नहीं होता तो आदमी दुःखी बन जाता है। प्रिय वस्तु के वियोग और अप्रिय वस्तु के संयोग से आदमी दुःखी बनता है। इस प्रकार जो आदमी इन द्वन्द्वों में संतुलन नहीं रख पाता, वह कभी शांत जीवन नहीं जी सकता। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में अनुकूलताएं भी आती हैं, प्रतिकूलताएं भी आती हैं। यदि वह दोनों अवस्थाओं में संतुलन बनाए रखता है तो वह शांत रह सकता है, अन्यथा उसे पग–पग पर दुःखी होना पड़ता है।

इसीलिए महावीर ने विवेक दिया कि मनुष्य को आर्त्त – रौद्र ध्यान में नहीं फंसना चाहिए। रोग हो या बुढ़ापा, जन्म हो या मरण–ये सब अनिवार्य घटनाएं हैं। इनमें विलाप करना दुःख को न्यौता देना है। इन ध्यानों में वर्तमान व्यक्ति मानसिक स्वास्थ्य से सदा दूर ही रहता है।

मनुष्य जैसा सोचता है, संकल्प करता है, वैसा बन जाता हैं । भीतर यदि जागरण न हो तो वह सोचना सम्मोहन पैदा करता है और यदि जागरण हो तो वह तदनुरूप परिवर्तन घटित कर देता है।

**वीतरागो भवेल्लोको, वीतरागमनुस्मरन् ।**
**उपासकदशां हित्वा, त्वमुपास्यो भविष्यसि ।। १६/१७**

मेघ ! तू वीतराग का स्मरण कर, स्वयं वीतराग बन जाएगा। तू उपासक दशा से ऊपर उठकर स्वयं उपास्य बन जाएगा।

महावीर ने यह नहीं कहा कि तू मेरा ध्यान कर। वे कह भी सकते थे, क्योंकि वे स्वयं वीतराग थे, पर उन्होंने नहीं कहा। उन्होंने

यही कहा कि जो आत्मा राग–द्वेष से मुक्त है, उसका ध्यान कर, स्मृति कर। इस चिन्तन से व्यक्ति की सारी प्रवृत्तियां वीतरागोन्मुखी होंगी। वैसा साधक धीरे–धीरे आगे बढ़ता हुआ स्वयं वीतराग बन जाएगा। यह ऊर्ध्वारोहण का सूत्र है।

इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि इष्ट के निर्धारण में साधक को पूरी सावधानी बरतनी चाहिए। इष्ट ऐसा हो जो निर्विकार और समस्त दोषों से मुक्त हो। यदि इष्ट निर्विकार नहीं है तो उसका स्मरण निर्विकारता का हेतु नहीं बनेगा। इष्ट निर्विकार है तो उसकी स्मृति या अर्चा निर्विकारता का कारण बनेगी। भगवान् महावीर उपासना को भी मानसिक प्रसन्नता का हेतु मानते हैं। वे कहते हैं–श्रमणों की उपासना करो, सत्संग करो। वैसा करने पर तुम्हें वे बातें सुनने को मिलेंगी, जिनसे तुम्हारा भव–भ्रमण मिट जाएगा। उन्होंने उपासना के दस फल निर्दिष्ट किए हैं। उनमें पहला है–श्रवण और अंतिम है निर्वाण। जो श्रवण निर्वाण की ओर ले जाता है, ग्रंथियों को खोलता है, वह श्रवण है, उपासना है, सत्संग है। यदि ग्रन्थियां नहीं खुली, निर्वाण का मार्ग नहीं मिला तो वह श्रवण केवल श्रवण होता है। वैसे सत्संग या धर्म–प्रवचन को सुनने से क्या जिससे आत्मा की सन्निधि प्राप्त न हो ?

उपासना के दस फल ये हैं–

१.श्रवण–सत्य को सुनना।

२.ज्ञान–सत्–असत् का ज्ञान होना।

३.विज्ञान–तत्वों का यथार्थज्ञान और उनका अभ्यास।

४.प्रत्याख्यान–हेय का त्याग और उपादेय का स्वीकार।

५.संयम–आत्माभिमुखता

६.अनाश्रव–कर्मो के आने के मार्ग का संवरण।

७.तपस्या–आत्मा को विजातीय तत्त्वों–कर्मो से वियुक्त करने की प्रक्रिया का अवलंबन।

८. व्यवदान–पूर्वसचित कर्मो के क्षय से होने वाली विशुद्धि।

९. अक्रिया–शैलेशी अवस्था की प्राप्ति।

१०. निर्वाण–आत्मा की पूर्ण शुद्धतम अवस्था।

मंजिल एक है मार्ग अनेक हैं। समस्त मार्ग मंजिल पर जाकर एक हो जाते हैं। विभिन्न दिशा से समागत नदियां समुद्र में मिल एक हो जाती है। साधना के विविध प्रयोग साधक को मंजिल पर पहुंचा देते हैं।

साधक समान योग्यता के न होने से प्रयोगों की विविधता स्वाभाविक है। यह विधि सर्वसाधारण साधकों के लिए है। भगवान ने सर्वप्रथम सत्संग को महत्व दिया है। संत की सन्निधि में सुनने को मिलता है। सुनने से ही आगे का पथ प्रशस्त होता है। श्रवण ज्ञान–वृद्धि कराता है, ज्ञान से विवेक शक्ति का स्फुटन होता है हिताहित के बोध द्वारा अहित से निवृति होती है। शनैः शनैः आगे का पथ प्रशस्त होकर मंजिल–ध्येय की प्राप्ति हो जाती है।

**इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम् ।**
**संस्पृशन्नात्मनात्मानं, परमात्मा भविष्यसि ।। १६/१८**

मेघ ! श्रवण से निर्वाण तक की प्रक्रिया परमात्मा बनने की प्रक्रिया है। इन्द्रियों का संयमन और चित्त का निरोध–प्रत्याहार की यह प्रक्रिया परमात्मा तक पहुंचा देती है।

आत्मा जब समस्त बंधनों से मुक्त हो जाती है, तब परमात्मा बन जाती है। प्रत्याहार आत्मा के स्पर्श की प्रक्रिया है। जब इन्द्रियां भीतर की ओर मुड़ जाएंगी, चित्त का निग्रह हो जाएगा, तब आत्मा का स्पर्श होगा। स्पर्श का अर्थ है–अनुभव करना। जो भीतर चैतन्य है, उसका अनुभव करना। यही आत्म–साक्षात्कार है।

जीवन का सम्बन्ध आयुष्य कर्म के साथ है। जब वह पूर्ण होता है तब प्राणी की मृत्यु होती है। उसे कौन बांधता है ? कब बांधता है ? कितना होता है ? कैसा होता है ? ये सारे प्रश्न प्राणी में ही समाहित है। जीव स्वयं ही सब करता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जीव के जैसे भाव होते हैं उसी के अनुरूप वह स्वतः हो जाता है। भाव धारा के अनुरूप ही कर्म पुद्गलों की परिणति वैसी हो जाती है।

प्रश्न समय का है। वह कब होता है ? इसका रहस्य प्राणियों–जीवों के लिए करीब–करीब अज्ञात ही है। इसे कोई–कोई विरल विशिष्ट ज्ञानी जन ही जान पाते हैं। जैन धर्म ने इस विषय पर अपना बहुत स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है। अन्य धर्मो में कहीं इसका स्पष्ट उल्लेख देखने–सुनने व पढ़ने में नहीं आया।

जीव आयुष्य कर्म का बंध वर्तमान जीवन के तीसरे भाग में करता है। यह तीसरा भाग कब होता है इसे ज्ञात करना कठिन है। जीवन कितना है ? यह भी ज्ञात नहीं है तब तीसरे भाग को जानना कैसे संभव हो सकता है ? तीसरे भाग में भी निश्चित रूप से हो जाए, यह कहना भी कठिन है। किन्तु इतना निश्चित है कि होता तीसरे भाग में है। यदि उस समय नहीं हुआ तो शेष जीवन के तीसरे भाग में होगा। अन्तिम निष्पत्ति तीसरे भाग में है। स्थूल रूप से अपने इस प्रकार समझ सकते हैं कि जीव का आयुष्य अब तीन मिनिट बचा है। शेष है तो वह बंध दो–मिनिट के पूर्ण के साथ ही जाएगा। इस समय जीव का जैसा भाव होता है वह उसी के अनुरूप भावी जीवन की योनि–गति का बंध कर लेता है।

भगवान महावीर मेघ को इसलिए सचेत कर रहे हैं कि मेघ ! तू नहीं जानता कि जीवन का तीसरा भाग कब है ? अतः प्रति क्षण सचेत रह, सजग रह, जागृत रह। सफल जीवन की यही सबसे बड़ी

चाबी है। सावधान व्यक्ति जीवन को संवार लेता है। उसकी दुर्गति नहीं होती। वह निराबाध अपनी मंजिल को प्राप्त कर लेता है।

प्रत्येक शरीरधारी प्राणी की मृत्यु निश्चित है। जो जन्म लेता है वह मरता है। यह नियम एकेन्द्रिय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति) द्विन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक समस्त जीवों पर समान रूप से लागू होता है। वे यहां से किस गति में आगे जायेंगे, यह सुनिश्चित जन्म के साथ नहीं होता।

**तेन प्रतिपलं मेघ ! जागरूकत्वमर्हसि ।। १६/१७**
**तृतीयो नाम को भागो, नेति विज्ञातुमईसि ।**
**सर्वदा भव शुद्धात्मा, तेन यास्यसि सद्‌गतिम् ।। १६/२१**

आयुबंध के क्षण में यदि प्राणी के मन में आवेश है, आवेग है, दुश्चिन्ताएं हैं और काम–वासना है, हिंसा या कपट के विचार हैं तो निःसन्देह उसके अधोगति का आयुबंध होगा, फिर चाहे उसने जीवन–भर धर्म की उपासना की हो, पुण्य किया हो, सत्संग किया हो। वह क्षण यदि सुधर जाता है तो अगला जन्म भी सुधर जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि किए हुए पुण्य कर्म या पाप कर्म के फल भोगने नहीं पड़ते। पुण्य कर्मो का फल भी भोगना पड़ेगा और पाप कर्मो का फल भी भोगना पड़ेगा। कर्मो का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता।

महावीर कहते हैं–**समयं गोयम ! मा पमायए**–क्षणमात्र का भी प्रमाद मत कर। लोग मानते हैं कि मनुष्य जीवन का लंबा अवसर हाथ आया है इसलिए जब चाहेंगे तब धर्म कर लेंगे। अभी धर्म क्या करें, बूढ़े होंगे तब करेंगे। बूढ़े होने के पश्चात् धर्म किसे याद आता है ? यदि आता भी है तो कर कौन पाता है ! घर में, परिवार में, धन में मन चिपका रहता है। हमें उन आप्त पुरुषों की वाणी पर ध्यान देना चाहिए। वे कहते हैं–जब तक बुढ़ापा न आए, व्याधि से

पीड़ित नहीं बनो और इन्द्रिय–शक्ति क्षीण न हो, उससे पूर्व ही धर्म–चिन्ता में लग जाओ। 'जागरह णरा णिच्चं'

ऋषियों का यह उद्घोष है कि मनुष्यों ! सतत जागृत रहो। एक क्षण भी अपनी चेतना से दूर मत हटो, उसे मत भूलो। कहावत है – 'सोया के पाडा जणे' लोक जीवन में भी सोते रहने पर कुछ का कुछ हो जाता है, तब अध्यात्म–साधक के जीवन में अकल्पित घट जाए तो क्या बड़ी बात है ? अतः यहां प्रमाद को कोई अवकाश नहीं होना चाहिए।

# लेश्या : रंग-विज्ञान

लेश्या जैन दर्शन का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। इसका विस्तृत विवेचन आगम–साहित्य में उपलब्ध है। इतनी विस्तृत चर्चा अन्यत्र दुर्लभ है। लेश्या का अर्थ है – कृष्ण आदि वर्णो के साहचर्य से होने वाले आत्म–परिणाम। वर्ण जड हैं, पौद्गलिक हैं। आत्मा चेतन है। किन्तु आत्मा के साथ संयुक्त होने के कारण वर्ण आत्मा को प्रभावित करते हैं। आत्मा ने उन्हें अपने परिणामों से आकृष्ट किये हैं। मन, वाणी और शरीर आत्मा के ये तीन प्रवृत्त होने के मुख्य साधन हैं। इन्हीं के माध्यम से कर्मो का आकर्षण करती है। कर्म में सभी प्रकार के वर्ण विद्यमान हैं। जब जैसा भाव होता है वैसी ही कर्म वर्ग को ग्रहण कर लेती हैं। फिर जब उस कर्म–समूह से कार्य में प्रवृत्त होती है तब पुनः उसी रूप में नये कर्म को ग्रहण कर लेती है। यह चक्र अनवरत चलता रहता है। लेश्या से कोई भी जीव/प्राणी मुक्त नहीं हैं। लेश्या से मुक्त है – केवल मुक्त–जीव, परमात्मा, परमेश्वर, सिद्ध आदि।

लेश्याएं छह हैं–१. कृष्णलेश्या, २. नीललेश्या, ३. कापोतलेश्या ४. तेजोलेश्या, ५. पद्मलेश्या, ६. शुक्ललेश्या। इनमें पहली तीन लेश्याएं अशुभ हैं, अप्रशस्त हैं और तीन शेष लेश्याएं शुभ हैं, प्रशस्त हैं। जैन साहित्य में इसे एक उदाहरण से समझाया गया है।

छह मित्र घूमने के लिए निकले। एक जंगल में गए। जामुन का वृक्ष देखा। उस पर जामुन फल पके हुए थे। उनका मन जामुन खाने के लिए ललचा उठा।

एक साथी बोला –काट गिराओ इस वृक्ष को, फिर मजे से फल खाओ।

दूसरा बोला–वृक्ष को काटने से क्या लाभ है ! बड़ी–बड़ी शाखाओं को काट डालो।

तीसरा बोला–बड़ी डालियों को काटने से क्या प्रयोजन है ! हमें तो फल खाना है। जिन छोटी शाखाओं पर फल लगे हैं, उन्हीं को काटो।

चौथा बोला–अरे ! छोटी शाखाओं को क्यों काटते हो, केवल जामुन के गुच्छे को तोड़ लो।

पांचवां बोला–अरे ! गुच्छों से हमें क्या प्रयोजन है ! जितने फल खाने हैं, जो पके हुए हैं, उन्हीं को तोड़ो।

छठा बोला–सब व्यर्थ का चिन्तन है। पके हुए जामुन नीचे भूमि पर गिरे हुए हैं। उनसे ही हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा। क्यों व्यर्थ ही फलों को तोड़ें।

लेश्या के आधार पर इन छहों व्यक्तियों का वर्गीकरण इस प्रकार है–पहला व्यक्ति कृष्ण लेश्या के परिणाम वाला, दूसरा नीललेश्या के परिणाम वाला, तीसरा कापोतलेश्या के परिणाम वाला, चौथा तेजोलेश्या परिणाम वाला, पांचवां पद्मलेश्या के परिणाम वाला और छठा शुक्ललेश्या के भाव वाला है। इन छहों व्यक्तियों की भावधारा में तरतमता स्पष्ट दृष्टिगत होती है।

प्रथम तीन लेश्याएं राजसिक और तामसिक गुण वाली है और अन्तिम तीन लेश्याएं सतो गुणवाली हैं, शुक्ललेश्या परम सतोगुण वाली है।

भगवान् महावीर ने छहों लेश्या वाले व्यक्तियों की भावधारा को बहुत स्पष्ट रूप से समझाया है।

जो व्यक्ति तीव्र हिंसा में परिणत होता है, जो बिना विचारे कार्य करता है, भोग में आसक्त रहता है और पांच आश्रवों में प्रवृत्त है, वह कृष्णलेश्या वाला होता है।

जो ईर्ष्यालु है, द्वेष करता है, विषयों में आसक्त रहता है, सरस आहार में लोलुप है, लज्जाहीन और प्रमादी है, वह नीललेश्या वाला हैं।

जो बुरा सोचता है, टेढ़ा बोलता है, कुटिल कर्म करता है, जो मिथ्यादृष्टि है, जो दूसरों के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकता, जो दम्भी है, जो दुर्वचन बोलता है, वह कापोतलेश्या वाला है।

जो विनीत, अचपल और सरल है, जो इन्द्रियों का दमन करता है पापभीरू है, धर्मप्रिय और दृढ़धर्मी है, वह तेजोलेश्या वाला है।

जिसके कषाय तनु हो गए हैं, जो जितेन्द्रिय है, जिसका मन प्रशान्त है, जो दान्त है, वह पद्मलेश्या वाला हैं

जो आर्त्त–रौद्र ध्यान का वर्जन कर धर्म और शुक्ल ध्यान की साधना करता है, जो उपशान्त है, जो तीन गुप्तियों से गुप्त है, वह शुक्ललेश्या वाला है।

यह छहों लेश्याओं के परिणामों की चर्चा है। अब हमें यह सोचना है कि हम प्रथम तीन लेश्याओं में जीते हैं या अन्तिम तीन लेश्याओं में ! यदि हमें महावीर का अनुयायी होना है, वीतराग का अनुयायी बनना है तो कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं से मुक्त होकर तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में जीना होगा। यदि हम कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ही रहेंगे तो हमारा उत्थान कभी नहीं हो पाएगा।

## जैसी मति वैसी गति

मति का अर्थ मनन है। मनन भाव की ही एक अवस्था है। भाव सूक्ष्म है और मनन स्थूल है। लेश्या भावधारा है। भावधारा का क्रम अविच्छिन्त चलता रहता है। उसके प्रवाह को सहजतया रोकना कठिन है। प्राणियों के समस्त व्यवहार–आचरण की यह जननी है।

जन्म–मृत्यु में भी इसकी मुख्यता रहती है। इसलिए भगवान ने कहा है – 'यल्लेश्योम्रिमयते जीव स्तल्लेश्यश्चोपपद्यते।' जीव जिस कृष्ण आदि लेश्या–भावधारा में प्राणों को छोड़ता है, वह उसी के अनुरूप योनि–गति में उत्पन्न हो जाता है। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जिस गति का आयुष्य–बंध हुआ है, उस गति के अनुरूप ही अन्त में विचार आएंगे। गति चार हैं–नारक, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च। इन चारों में से एक में वह जीव जन्मता है।

लेश्या का स्थूल या दृश्य रूप 'ओरा' आभामंड़ल है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के आस–पास इसका वलय देखा जा सकता है। 'रेकी' पद्धति के द्वारा इसी ओरा को परिवर्तित कर स्वस्थ किया जाता है। इस पर बहुत अनुसंधान हुआ है। इसके फोटो लिए गए हैं। जीवित और मृत का निर्णय इसी आधार पर किया जा सकता है। योगसिद्ध गुरु के लिए आवश्यक है कि वह 'ओरा' का विशेषज्ञ हो। शिष्य की परीक्षा 'ओरा' देखकर करे। वह शिष्य पर दृष्टि डालकर प्रकाश को देखता है और निर्णय लेता है। 'ओरा' हमारी आन्तरिक स्थिति का प्रतिबिम्ब है। आप अपने को कितना ही छिपाएं, किन्तु आभामंडल के विशेषज्ञ व्यक्ति से गुप्त नहीं रह सकते। आपके विचारों या भावों का प्रतिनिधित्व शरीर से निकलने वाली आभा प्रतिक्षण कर रही है। वह रंगों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। हम महापुरूषों के सिर के पीछे आभावलय देखते हैं। वह और कुछ नहीं, मन की पूर्ण शान्तस्थिति में निर्मित 'ओरा'–आभामंडल है।

शरीर से निकलने वाले सूक्ष्म प्रकाश–किरणों का 'अंडाकार' आभामंडल 'ओरा' है। इसे 'साइकिक एटमोसफियर', मैग्नेटिक एटमोसफियर' भी कहते हैं। यह शरीर से दो–तीन फीट की दूरी

तक रहता है। मानस परिवेश ६ से १० फीट तक रहता है। शरीर के मध्य बहुत गहरा और आसपास हल्का होता है। जिनके आचार–विचार में स्थायित्व आ जाता है उनका 'ओरा' स्थायी बन जाता है, अन्यथा वह प्रतिक्षण भावों के साथ बदलता रहता है। औरों के रंग तथा छाया आश्चर्यजनक व रूचिकर होते हैं। स्थूल शरीर की भांति मेण्टल–मानसिक शरीर भी बड़ा इंटरेस्टिंग है। ओरा लेश्या की तुलना समुद्र से की जा सकती है। जो कभी शान्त दिखाई देता है और कभी अशान्त, तरंगों से आकुल। यही स्थिति सभी प्राणियों की है।

मानव ओरा का मूल द्रव्य प्राण है। प्राण जीवन का आधार है। भावना का सम्बन्ध प्राण से है। प्राण का रंग भाव–विचारों के बदलते ही बदल जाता है। वही बाहर प्रकट होता है। प्राण ओरा के पार्टिकल्स सबके भिन्न–भिन्न होते हैं। आदमी के चले जाने के बाद भी जो परमाणु शेष रहते हैं उनसे आदमी के सम्बन्ध में जाना जा सकता है। प्राण ओरा में बहुत अधिक प्रकाशशील स्फुलिंग होते हैं। व्यक्ति के प्रभावित और अप्रभावित होने में ओरा क़ा हाथ है।

लेश्या के नामों से यह अभिव्यक्त होता है कि ये नाम अन्तर से निकलने वाली आभा के आधार पर रखे गए हैं। उनका जैसा रंग है, व्यक्ति का मानस भी वैसा ही है। प्रशस्त और अप्रशस्त में रंगों का प्राधान्य है। कृष्ण, नील और कापोत–अप्रशस्त हैं, तेजस, पद्म और शुक्ल–प्रशस्त हैं। वैज्ञानिकों ने 'ओरा' के प्रायः ये ही रंग निर्धारित किए हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि बाहर के रंग भी व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। बाहरी रंगों का ध्यान–चिन्तन कर हम आन्तरिक रंगों को भी परिवर्तित कर सकते हैं।

रंग हमारे शरीर को प्रभावित करता है, हमारे मन को प्रभावित

करता है। रंग–चिकित्सा–पद्धति आज भी चलती है। 'कलर थेरापी'–यह पद्धति चल रही है। एक पद्धति है 'कॉस्मिक थेरापी' अर्थात् दिव्य किरण चिकित्सा। इसका भी रंगों के साथ सम्बन्ध है। रंग और सूर्य की किरण–दोनों के साथ इसका सम्बन्ध है। प्रकाश के साथ यह संयुक्त है। रंग हमारे शरीर को और हमारे मन को विविध प्रकार से प्रभावित करता है। उससे रोग मिटते हैं, फिर वे रोग शारीरिक हों या मानसिक। मानसिक रोग चिकित्सा में भी रंग का विशिष्ट स्थान है पागलपन को रंग के माध्यम से समाप्त कर दिया जाता है रंग थोड़ा–सा विकृत हुआ कि आदमी पागल हो जाता है रंग की पूर्ति हुई कि आदमी स्वस्थ हो जाता है। शरीर में रंग की कमी के कारण अनेक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। 'कलर थेरापी' का यह सिद्धान्त है कि बीमारी के कोई किटाणु नहीं होते। रंग की कमी के कारण बीमारी होती है। जिस रंग की कमी हुई, उसकी पूर्ति कर दो, आदमी स्वस्थ हो जाएगा, बीमारी मिट जाएगी। बीमारी का होना या बीमारी का न होना या स्वस्थ होना, यह सारा रंगों के आधार पर होता है।

हमारे चिंतन के साथ भी रंगों का संबंध है। मन में खराब चिंतन आता है, अनिष्ट बात उभरती है, अशुभ सोचते हैं तब चिंतन के पुद्गल काले वर्ण के होते हैं। लेश्या कृष्ण होती है। अच्छा चिंतन करते हैं, हित–चिंतन करते हैं, शुभ सोचते हैं, तब चिंतन के पुद्गल पीत वर्ण के होते हैं, पीले होते हैं। लाल वर्ण के भी हो सकते हैं और श्वेतवर्ण के भी हो सकते हैं। उस समय तेजोलेश्या होगी या पद्म व शुक्ललेश्या। बुरे चिंतन के पुद्गलों का वर्ण है काला, नीला और कापोत तथा अच्छे पुद्गलों का वर्ण है पीला, लाल या श्वेत। कितना बडा संबंध है रंग का चिंतन के साथ। जिस प्रकार का चिंतन होता है उसी प्रकार का रंग होता है।

शरीर के साथ रंग का गहरा संबंध है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के आसपास रंग का एक आभामंडल है। उसमें अनेक रंग होते हैं। किसी के आभामंडल का रंग काला होता है, किसी के नीला और किसी के लाल और किसी के सफेद। अनेक वर्णों का भी होता है आभामंडल। आपकी आंखों को वे रंग नहीं दीखते। पर वे हैं अवश्य ही। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं होता जिसके चारों ओर आभामंडल नहीं हो। इसका स्वयं पर ही असर होता है और दूसरों पर भी असर होता है। आप किसी व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं। बैठते ही आपके मन में एक परिवर्तन होता है। लगता है कि आपको अपूर्व शांति का अनुभव हो रहा है। आपका मन आनंदित है और अन्दर ही अन्दर एक संगीत चल रहा है। आप किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाकर बैठते हैं। अकारण ही उदासी छा जाती है। मन उद्विग्न हो जाता है। मन में क्षोभ और संताप उत्पन्न हो जाता है। वहां से उठने की शीघ्रता होती है। यह सब क्यों होता है ? भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के पास बैठकर हम भिन्न–भिन्न भावनाओं से आक्रान्त होते हैं। यह सब क्यों और कैसे होता है ? इसका कारण है व्यक्ति–व्यक्ति का आभामंडल–आभावलय। सामने वाले व्यक्ति का जैसा आभामंडल होता है, आभावलय होता है, उसके रंग होते हैं, वे पास वाले व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति चाहे या न चाहे, वह उन रंगों से प्रभावित होता है। जिस व्यक्ति का आभामंडल श्वेत वर्ण का है, लाल वर्ण का है, पीले वर्ण का है, उसके पास जाकर बैठते ही मन शांत हो जाता है। मन शांति से भर जाता है। उद्विग्नता मिट जाती है। प्रसन्नता से चेहरा खिल उठता है। जिसका आभामंडल विकृत है, कृष्णवर्ण के पुद्गलों से निर्मित है तो उस व्यक्ति के पास जाते ही अकारण ही चिन्ता उभर आती है, उदासी छा जाती है, मन उद्विग्नता से भर जाता है और ईर्ष्या, द्वेष, बुरे विचार मन में आने लगते हैं।

इससे स्पष्ट है कि रंग हमें प्रभावित करते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक रंग के सात प्रकार मानते हैं–लाल, हरा, पीला, आसमानी, गहरा नीला, काला और हल्का नीला।

उनके अनुसार रंग मौलिक नहीं है। यह सात रंगों के एकीकरण से बनता है। रंगों का प्राणी–जीवन के साथ गहरा संबंध है। ये हमारे शरीर तथा मानसिक विचारों को भी प्रभावित करते हैं। लेश्या के सिद्धान्त द्वारा इसी भावना की व्याख्या की गई है।

वैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा रंगों की प्रकृति पर काफी प्रकाश डाला गया है। देखिए यंत्र–

| **नाम** | **प्रकृति** |
|---|---|
| लाल | गर्म |
| नारंगी | गर्म |
| लाल–नारंगी | बहुत गर्म |
| पीला | गर्म, किन्तु लाल नारंगी से कम |
| हल्का गुलाबी | गर्म |
| बादामी | गर्म |
| हरा | गर्म |
| नीला | न अधिक गर्म, न अधिक ठंडा |
| गहरा नीला या आसमानी | ठंडा |
| शुभ्र | न गर्म, न ठंडा |

इनमें नारंगी लाल रंग के परिवार का रंग है। बैंगनी और जामुनी रंग नीले रंग के परिवार के हैं।

## रंगों का शरीर पर प्रभाव

लाल–स्नायुमंडल को स्फूर्ति देना।

नीला–स्नायविक दुर्बलता, धातुक्षय, स्वप्नदोष में लाभ पहुंचाना

और हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देना।

पीला–मस्तिष्क की शक्ति का विकास, कब्ज, यकृत और प्लीहा के रोगों को शांत करने में उपयोगी।

हरा–ज्ञान–तंतुओं और स्नायु–मंडल को बल देना, वीर्य रोग के उपशमन में उपयोगी।

गहरा नीला–गर्मी की अधिकता से होने वाले आमाशय संबंधी रोगों के उपशमन में उपयोगी।

शुभ्र–नींद के लिए उपयोगी।

नारंगी–दमा तथा वात व्याधियों को मिटाने में उपयोगी।

बैंगनी–शरीर के तापमान को कम करने में उपयोगी।

**रंगों का मन पर प्रभाव**

काला रंग मनुष्य में असंयम, हिंसा और क्रूरता का विचार उत्पन्न करता है।

नीला रंग मनुष्य में ईर्ष्या, असहिष्णुता, रसलोलपुता और आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है।

कापोत रंग मनुष्य में वक्रता, कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न करता है।

अरुण रंग मनुष्य में ऋजुता, विनम्रता और धर्म–प्रेम उत्पन्न करता है।

पीला रंग मनुष्य में शांति, क्रोध, मान, माया और लोभ की अल्पता व इन्द्रिय–विजय का भाव उत्पन्न करता है।

मानसिक विचारों के रंगों के विषय में एक दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है, जिसका प्रथम वर्गीकरण के साथ पूर्ण सामंजस्य नहीं है। यह इस प्रकार है–

| **विचार** | **रंग** |
| --- | --- |
| भक्ति विषयक | आसमानी |
| कामोद्वेग–विषयक | लाल |
| तर्क–वितर्क विषयक | पीला |

| | |
|---|---|
| प्रेम–विषयक | गुलाबी |
| स्वार्थ विषयक | हरा |
| क्रोध विषयक | लाल और काले रंग का मिश्रण |

इन दोनों वर्गीकरणों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्रत्येक रंग दो प्रकार का होता है –

१.प्रशस्त

२.अप्रशस्त

कृष्ण, नील और कपोत–अप्रशस्त कोटि के ये तीनों रंग मनुष्य के विचारों पर बुरा प्रभाव डालते हैं तथा अरुण, पीला और सफेद–प्रशस्त कोटि के ये तीन रंग मनुष्य के विचारों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं।

रंग–चिकित्सा का यह भी एक प्रकार है कि विभिन्न रंगों की बोतलों में पानी भरकर सूर्य के ताप में रखा जाता है। वह पानी आतप से चार्ज हो जाता है और फिर उसको विभिन्न बीमारियों में पिलाया जाता है। इसी प्रकार चीनी, तेल आदि भी अलग–अलग रंगीन बोतलों में डालकर सूर्य के आतप में भावित किए जाते हैं और उनको बीमारी में औषध के रूप में दिया जाता है।

रंगों के ध्यान से भी अप्रशस्त लेश्याएं बदली जा सकती हैं। कोई व्यक्ति यदि बाल सूर्य के अरुण रंग का, पीले या सफेद रंग का या नीले रंग का ध्यान करता है तो उससे अशुद्ध भाव मिटते हैं और शुद्ध भाव प्रकट होते हैं। जब साधक उन रंगों पर एकाग्र होता है तब वह रंग उभरता जाता है और वह आन्तरिक परिवर्तन घटित करता है। रंग–ध्यान से वृत्तियां बदलती हैं।

नमस्कार मंत्र के पांच पद हैं। इनके रंग भिन्न–भिन्न हैं–

१.अरिहन्त–सफेद वर्ण

२.सिद्ध–अरुण वर्ण।

३.आचार्य–पीला वर्ण

४.उपाध्याय–हरा वर्ण

५.साधु–नील वर्ण

विभिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों में विभिन्न रंगों की बहुलता होती है। भक्तिमान व्यक्ति में नीले रंग की, कामवासना से ग्रस्त व्यक्ति में लाल रंग की, तर्क–वितर्क करने वाले व्यक्ति में पीले रंग की, स्वार्थी में हरे रंग की, क्रोधी व्यक्ति में लाल और काले रंग के मिश्रण की बहुलता होगी।

इस प्रकार रंग प्रशस्त भी होते हैं और अप्रशस्त भी। एक काले रंग का आदमी भी बहुत सुन्दर और स्वच्छ हो सकता है और एक गोरे रंग का आदमी असुन्दर और मैला हो सकता है। काले आदमी के पास बैठने का मन करता है क्योंकि उसकी ओरा, भावधारा स्वच्छ और सुन्दर है और गोरे आदमी के पास बैठने की इच्छा ही नहीं होती क्योंकि उसकी ओरा, भावधारा मलिन है। भीतर से निकलने वाले रंग आदमी को प्रभावित करते हैं और इन रंगों की घटक है हमारी भावधारा।

रंग–चिकित्सा के आधार पर माना जाता है कि शरीर में जिस रंग का संतुलन बिगड़ जाता है, जिस अवयव में जिस रंग की कमी हो जाती है, वह बीमार हो जाता है। विभिन्न प्रयोगों से उस रंग की पूर्ति कर देने से वह अवयव स्वस्थ हो जाता है।

वैज्ञानिकों ने मनुष्य के मस्तिष्क से निकलने वाली तरंगों को नापा है। इन तरंगों के आधार पर मनुष्यों के भावों को परखा जा सकता है। मुख्यतः चार तरंगें हैं–अल्फा, बीटा, थीटा और डेल्टा। अल्फा तरंगें सबसे शक्तिशाली हैं। जब आदमी एकाग्र होता है, समाधि की अवस्था में होता है तब ये अल्फा तरंगें पैदा होती हैं। उस समय व्यक्ति सुषुप्ति में नहीं होता, जागृत होता है। जब आदमी अपनी चेतना से जुड़ा हुआ होता है, उस समय अल्फा तरंगों की गति को नापा गया है। इसकी गति ८ से १३ प्रति सेकण्ड होती है। उसके बाद तन्द्रा या सामान्य नींद की स्थिति में थीटा तरंगें पैदा होती हैं। सुषुप्ति की अवस्था में डेल्टा तरंगें उत्पन्न होती हैं। ध्यान के द्वारा हम इन तरंगों को बदल सकते हैं।

महावीर ने मेघ को मानसिक प्रसन्नता का गुर बताते हुए उसे

लेश्यातीत अवस्था तक पहुंचने का मार्ग बता दिया। जैसे–कृष्ण अर्जुन को गुणातीत होने की बात कहते हैं, वैसे ही महावीर मेघ को लेश्यातीत होने की बात कहते हैं। लेश्यातीत का अर्थ है समस्त बंधनों से मुक्त हो जाना।

महावीर का उपदेश सुनकर मेघ अत्यन्त प्रसन्न हो गया। उसके अन्तःकरण का सारा कलुष धुल गया। सुनते–सुनते उसकी गति आत्मा की दिशा में हो चली। उसने मन–ही–मन सोचा–आज यदि प्रभु मेरे अस्थिर चरणों को स्थिरता नहीं देते तो मैं पुनः संसार के मायाजाल में फंस जाता। इस विचार से उसके मन में सहज ही अपने आराध्य के प्रति कृतज्ञता के भाव उमड़ पड़े। कृतज्ञता–ज्ञापन साधन का सहज धर्म है। वह कभी उससे मुक्त नहीं हो सकता। आराध्य नहीं चाहते कि आराधक मेरी स्तवना करे, कृतज्ञता ज्ञापित करे परन्तु आराधक का यह धर्म और कर्तव्य हो जाता है कि वह कृतज्ञता–ज्ञापन में कंजूसी न करे। उसकी आत्मा में वे भाव उभरते हैं और वह उन भावों को दबा नहीं सकता। सहजोबाई कहती हैं–भगवान् को छोड़ सकती हूं पर गुरू को नहीं–**चरणदास पर तन मन वारूं, गुरू न तजूं, हरि को तज डारूं**–मेघ ने इसी का निर्वाह किया। वह कह रहा है–

–आर्य ! आप सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, स्थितात्मा हैं, धैर्यवान् हैं, अमर है, अभय है, राग–द्वेष की ग्रन्थियों से रहित हैं, और संसार का अन्त करने वाले हैं।

आप देखने वालों के लिए उत्तम चक्षु हैं। ज्ञानियों के लिए उत्तम ज्ञान हैं। ठहरने वालों के लिए स्थान हैं और चलने वालों के लिए उत्तम गति हैं।

आप अशरणों के शरण हैं। अस्थिर चित्त वाले मनुष्यों के लिए प्रतिष्ठान हैं। संसार से पार होने वालों के लिए नौका हैं और प्राणधारियों के लिए आप श्वास हैं।

हे तीर्थनाथ ! आपने इस चतुर्विध संघ का प्रवर्तन किया। हे स्वयं

बुद्ध आपने ज्ञान से समस्त संसार को जागृत किया।

भगवन् ! आप अहिंसा की आराधना कर पुरुषोत्तम बने हैं, भय को सर्वथा छोड़ पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी बने हैं।

निर्लेप होने के कारण आप पुरुषों में पुण्डरीक–कमल के समान हैं। गुण–संपदा से समृद्ध होने के कारण आप पुरुषों में गन्धहस्ती के समान हैं।

भगवन् ! आप संसार में उत्तम हैं, संसार में एकमात्र नेता हैं, संसार में द्वीप हैं, अभयदाता हैं, महान् हैं तथा मनुष्य को दृष्टि देने वाले हैं, मार्ग देने वाले हैं, प्राण और बोधि देने वाले हैं।

प्रभो ! आप धर्म–चक्रवर्ती हैं। महान् प्रभाकर हैं, शिव हैं, अचल हैं, अक्षय हैं, अनन्त हैं, धर्म का दान करने वाले हैं और धर्म–रथ के सारथि हैं।

प्रभो ! आप आत्म–जेता हैं और दूसरों को विजयी बनाने वाले हैं। स्वयं संसार–सागर में तर गए हैं, दूसरों को तारने वाले हैं। आप बुद्ध हैं, दूसरों को बोधि देने वाले हैं। स्वयं मुक्त हैं दूसरों को मुक्त करने वाले हैं।

महावीर बोले–मेघ ! मुझे मत पकड़ लेना। मेरे साथ भी स्नेह मत करना, अन्यथा तेरी यात्रा बीच में ही रह जाएगी। केवल अपने को ही पकड़ना।

मेघ चौंका, जागा। उसने महावीर को बीच से हटा दिया। वह अकेला साधना–पथ पर अनवरत बढ़ता रहा। साधना सिद्ध हुई और महावीर सामने खड़े हो गए। अब मेघ और महावीर के बीच द्वैत नहीं रहा।

यह मेघ को दिया गया भगवान् महावीर का प्रतिबोध जन–जन के लिए प्रतिबोध है। मोह–विजय, अज्ञान–विजय और आत्मानुशासन का यह अमोघ प्रवचन है, उपदेश है।

जिसका मोह विलय होता है, वह संबुद्ध है। 'सम्बोधि' की उपासना कर अनेक आत्माएं मेघ बन गई और अनेक बनेंगी। आत्मा

का शुद्ध स्वरूप सच्चिदानंद है। वह आत्मोपासना से प्रबुद्ध होता है। मोह और अज्ञान आलेतर हैं। इनके भंवर से वही निकल सकता है जो 'सम्बोधि' को आत्मसात् करता है। 'सम्बोधि' का संक्षेप रूप है–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। यही आत्मा है। जो आत्मा में अवस्थित है वह इस त्रिवेणी में अवस्थित है और जो त्रिवेणी की साधना में संलग्न है वह आत्मा में संलग्न है।

आत्मा की अविकृत और विकृत दशा की यहां विस्तृत चर्चा है। विकृत से अविकृत बनाना 'सम्बोधि' का ध्येय है। जो धर्ममूढ़ता और आत्ममूढ़ता है वह मोह है। मोह का विलय मुक्ति है। मोह–विलय से दृष्टि–शुद्धि, ज्ञान–शुद्धि और आचार–शुद्धि होती है। प्रत्येक व्यक्ति इस विशुद्धि का अधिकारी है किन्तु वह सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है जिसकी मोह–विजय में पूर्ण आस्था है। क्षेत्र, काल, प्रान्त आदि की सीमाएं आस्थावान् के लिए व्यवधान नहीं बन सकती। यह सबकी बपौती है। 'सम्बोधि' आस्था को जगाती है और व्यक्ति को आस्थावान् बनाती हैं, आत्मा की 'स्व' में अटूट आस्था को प्रबल कर वह कृतकृत्य हो जाती है।





# लेखक की अन्य कृतियां

| | |
|---|---|
| योग–शिखा (कविता संग्रह) | II संस्करण |
| मन के पार (गीत–संग्रह) | III संस्करण |
| उड़ीसा में जैन धर्म (उड़ीसा से हिन्दी अनुवाद) | III संस्करण |
| प्रेक्षा ध्यान : एक विश्लेषण | |
| जैन रामायण की कथाएं | II संस्करण |
| सुमरो नित नवकार | संस्करण |
| स्वास्थ्य विवेक | III संस्करण |
| ढ़ाई अक्षर ध्यान का | |
| संबोधि के पथ पर | III संस्करण |
| संबोधि : सिद्ध का द्वार | II संस्करण |
| संबोधि : शान्ति की खोज | II संस्करण |
| कैसे चलें | II संस्करण |
| दस धर्म (हिन्दी–गुजराती) | III संस्करण |
| मैं आत्मा हूँ (हिन्दी–गुजराती) | III संस्करण |
| अगम की ओर | |
| नया धर्म नया जीवन | |
| मंत्र शक्ति साधना और समाधान (संपादित) | |
| अथ ध्यान–जिज्ञासा | |

मूल्य - 35/-